मेघदूतम्

पञ्जरिकाटीका

सम्पादक

डॉ. रामेश्वर प्रसाद मिश्र

प्रकाशक

मानस-संघ

रामवन, सतना

श्रीशः पातु

श्रीमल्लिनाथ-सुतविरचित-पंजरिकाटीकया विभूषितम्

मेघदूतम्

सुधाख्यहिन्दीव्याख्यया समन्वितम्

सम्पादक एवं हिन्दी-अर्थ-लेखक

डा० रामेश्वरप्रसाद मिश्र

व्याकरणाचार्य, काव्यतीर्थ,-हिन्दीसाहित्यरत्न

एम० ए० (संस्कृत-हिन्दी) पी० एच० डी०

प्रकाशक

संस्कृत-विश्व-परिषद, शाखा सतना के हेतु

मानस-संघ, रामवन (जिला-सतना)

(म० प्र०)

प्रकाशक
संस्कृत-परिषद्, सतना के हेतु
मानस-संघ रामवन, सतना (मध्यप्रदेश)

प्रथम संस्करण ११००
१८६६ शाकाब्द, १९६६ ई०

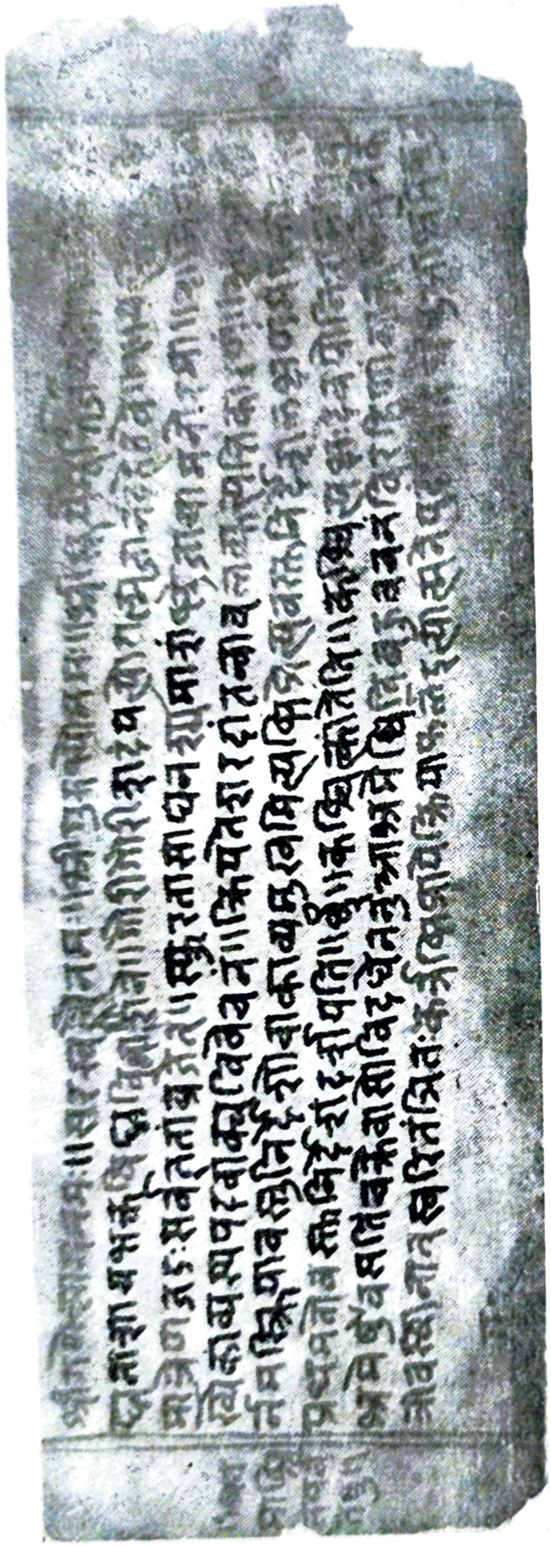
मूल्य सजिल्द ४.००
अजिल्द ३.५०

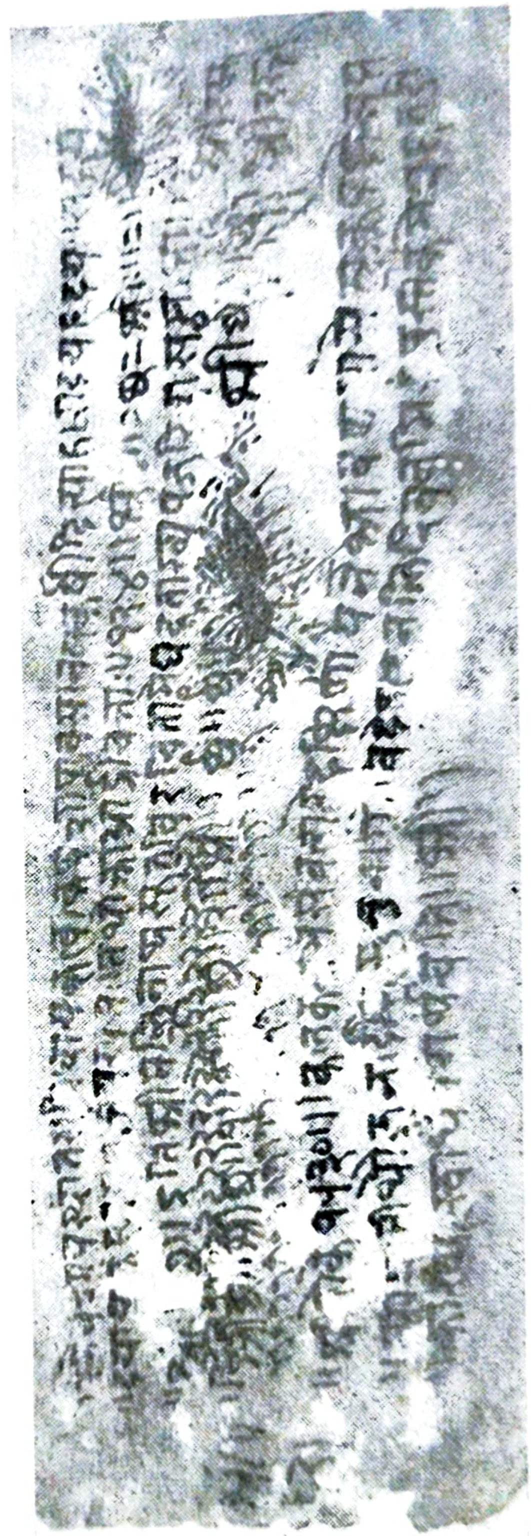
मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
भेलुपुर वाराणसी–१

समर्पण

आचार्य प्रवर गुरुदेव श्री शिवदर्शन त्रिपाठी
प्राचार्य श्री जयदेव वैष्णव संस्कृत कालेज कर्वी के
करकमलों में यह शोधात्मक लघुप्रयास सादर
समर्पित है। उनकी वात्सल्यमयो अनुकम्पा
का स्नेहिल सम्बल ही छात्र-जीवन से
अब तक मेरी प्रेरणाओं का स्रोत
बना हुआ है। मैं उनके वैदुष्यपूर्ण
व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धावनत हूँ।

समर्पक
रामेश्वरप्रसाद मिश्र





विषय-सूची

निवेदन

एक सज्जन के पास पुरानी हस्तलिखित पुस्तकों के स्फुट पत्रों का ढेर इकट्ठा हो गया। बनियों ने उसे रद्दी के भाव खरीदा नहीं क्योंकि उससे पुड़िया नहीं बँधती थी। वह उन्होंने रामवन को भेंट करने की कृपा की।

परिश्रम करने से उसमें से बहुत सी पुस्तकें पूरी निकाली जा सकीं। उनमें ही मिली यह मेघदूत की मल्लिनाथ सुत कृत टीका। अब तो यह तुलसी संग्रहालय की एक निधि है। हमें हर्ष है कि श्री डा० रामेश्वर-प्रसाद मिश्र ने इसका सम्पादन करना स्वीकार किया।

संस्कृत विश्व परिषद् की सतना शाखा ने इसे प्रकाशित कराना चाहा पर पूर्ण व्यवस्था हो नहीं सकी। अतः उनके सहयोग से मानस संघ ही इसे प्रकाशित कर रहा है। भारतीय वाङ्मय की एक अज्ञात और अलभ्य कृति को जनता तक पहुँचाने में हमें विशेष हर्ष है। आशा है भविष्य में भी इस प्रकार की सेवा के अवसर हमें मिलेंगे।

शारदाप्रसाद
मन्त्री
मानस संघ रामवन (सतना) म०प्र०

आमुख

मैंने डा० रामेश्वरप्रसाद मिश्र के द्वारा पञ्जरिका टीका के साथ सम्पादित मेघदूत पढ़ा। यद्यपि मेघदूत के अनेक संस्करण प्राप्त होते हैं, पर उनसे इसका वैशिष्ट्य स्फुट रूप से उद्भासित होता है। पञ्जरिका टीका से संबधित होने के कारण यह संस्करण ग्राह्य और स्पृहणीय है। श्री मिश्रजीने मेघदूतके अध्ययन से एक नया अध्याय जोड़ा है, जो सूक्ष्मेक्षिकया आलोचनीय है। प्रारम्भ में अपेक्षित भूमिका उपन्यस्त की गयी है, जो अत्यन्त उपादेय है। इसमें मेघदूतविषयक चर्चा कमनीयता से उपनिबद्ध हुई है। सम्पादक महोदय ने श्लोकों का हिन्दी में अर्थ दे दिया है। इसके कारण यह और भी वाञ्छनीय हो गया है।

यह संस्करण विद्वानों तथा विद्यार्थियों—दोनों के लिये परम प्रीतिकर सिद्ध होगा और पञ्जरिका टीका की समस्यायें विपश्चिद्वृन्द की चिन्तनधारा में अभिलक्षित होंगी, ऐसी आशा है। श्री मिश्र जी ने इस प्रकार संस्कृत-साहित्यवाटिका के मधुपों के लिए कतिपय मकरन्द-विन्दुओं का संग्रह करके परम उपकार किया है। एतदर्थ वे धन्यवाद और प्रशंसा के भाजन हैं। मैं इस संस्करण के प्रसार के लिए हृदय से कामना करता हूँ।

अमरनाथ पाण्डेय
प्राध्यापक, संस्कृत विभाग,
काशी विद्यापीठ, वाराणसी

भूमिका

महाकवि कालिदास की कविता मन्दाकिनी में न जाने कितने काव्य-मर्मज्ञ, कलम के सपूतों ने, हिलोरे हो नहीं लीं अपितु चूणान्त निमज्जन भी किया है। व्याख्याकार मल्लिनाथ ने महाकवि के प्रायः सभी प्रमुख श्रव्य काव्यों की पाण्डित्यपूर्ण टीका की है, जिसके समादर में दो मत नहीं हो सकते। प्रस्तुत सन्देश काव्य मेघदूत, महाकवि कालिदास की अनुपम कृति है। उसमें मानवीय भावनाओं को इतनी मधुरता के साथ सजोया गया है कि प्रत्येक सहृदय मधुप उसके भावपरिमल में स्वभावतः मुग्ध होकर गुनगुना उठता है, और आनन्द में विभोर हो जाता है। टीकाकारों के समुदाय भी यशः प्रलोभन एवं पाण्डित्यप्रदर्शन की लालसा को संवरण नहीं कर सके। संजीवनीकार मल्लिनाथ से लेकर कादम्बिनी जैसे हिन्दी व्याख्याकारों तक एक विशिष्ट परम्परा टीका सम्पत्ति के रूप में सुशोभित है। महामहोपाध्याय मल्लिनाथ की संस्कृत टीका संजीवनो में दण्डान्वय शैली (पहले विशेषण पुनः विशेष्य का आश्रय लेकर अन्वयानुकूल एक प्रौढ़ व्याख्या प्रस्तुत की गई है। उसमें शब्द व्युत्पत्ति के रूप में व्याकरण बोध के साथ ही कोशकारों के श्लोक उद्धृत कर शब्दार्थज्ञान वाहुल्य की परिधि को भी विस्तृत करने का दृष्टिकोण अपनाया गया है। टीका का गठन इतनो सतर्कता के साथ किया गया है, कि उसमें एक शब्द भी निष्प्रयोजन नहीं प्रतोत होता। जैसा कि उन्होंने स्वयं अपनी प्रतिज्ञा में कहा है कि :—

इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया,
नामूलं लिख्यते किंचिन्नानपेक्षितमुच्यते।

और व्याख्या में मल्लिनाथ ने इसका अक्षरशः पालन किया है।

संस्कृत के दूसरे व्याख्याकार हैं श्रीचरित्रवर्धनाचार्य। उन्होंने खण्डान्वय शैली (प्रथम विशेष्य तदनन्तर विशेषण) को अपनाकर "चारित्रवर्धिनी" नामक टीका लिखी है। यह व्याख्या भी अपने ढंग की अनूठी है। सुबोध शैली में भावों के स्पष्टीकरण का यह प्रयास सर्वथा स्तुत्य है। इनकी टीका में प्राचीन पाण्डित्य का एक अनुपम पुट है जो विशिष्ट ज्ञान में अपना विशेष योगदान करता है।

इसके अतिरिक्त वर्तमान शिक्षा प्रणाली की परीक्षण विधि ने अनेक टीकाकारों को जन्म दिया। जिन में परीक्षाम्मेधितितीर्षुओं के लिये दृढ़ नौका का रूप दिया गया है। इन व्याख्याओं में अन्वय, समास, शब्दार्थ, शब्दव्युत्पत्ति, कोष, भावार्थ, विशेषार्थ टिप्पणी, हिन्दी में अर्थ, आदि के रूप में टीका को पल्लवित किया गया है। इन कुञ्चिकात्मक व्याख्याओं का प्रधान उद्देश्य, गुरुओं के आश्रय की पराधीनता से छात्रों को विमुक्तकर स्वावलम्बी बनाने की ओर विशेष रूप से रहा है। इस प्रकार मेघदूत की सम्भवत: ३३ टीकायें हो चुकी हैं। अब तक हम मेघदूत के संस्कृत टीका-कारों से उक्त रूप में ही परिचित थे।

मेघदूत के हिन्दी रूपान्तरकारों का भी अपना एक विशेष महत्व है। श्री लक्ष्मण सिंह, रायदेवी प्रसाद पूर्ण, अवधावासी लाल श्री सीताराम, पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी, कन्हैयालाल पोद्दार, श्री बद्रीदयाल शुक्ल (सुधाकर) आदि कविमनीषियों ने असंस्कृतज्ञों के लिये भी कालिदास की कमनीय कला का रसास्वाद कराने के लिये यथाशक्ति प्रयास किया है। उक्त पद्यात्मक रूपान्तरों में जहाँ एक ओर कवित्व की परिधि में मूलभावनाओं को सजोने में स्पृहणीय पुरुषार्थ है, वहाँ दूसरी ओर मूल पुस्तक के श्लोकों के क्रम की परम्परा में एक नवीन क्रमबद्धता का भी परिचय है। रूपान्तरों में श्री बद्रीदयाल शुक्ल कृत 'मेघसुधा' नामक पद्यानुवाद औरों की अपेक्षा अधिक भावानुगामी नवीन एवं संस्कृतनिष्ठ है। इसकी रचना सन् १९५१ में हुई है। तभी तो इसकी प्रशंसा में राहुल सांकृत्यायन

ने लिखा है कि "इनकी कोमलकान्तपदावली को सुनकर यह कहना कठिन हो जाता है कि पद्यानुवाद है। क्योंकि अनुवाद होने पर भी यह मौलिक सा प्रतीत होता है।"

उक्त टीकासम्पत्ति में श्री मल्लिनाथसुतकृत पंजरिका टीका की उपलब्धि ने अब एक और नवीन अध्याय जोड़ दिया है। हस्तलिखित यह प्राचीन पुस्तक रामवन (सतना म० प्र०) के तुलसी संग्रहालय में संग्रहीत है। पत्राकार पुराने कागज पर लिखी गई यह पुस्तक ६२ पन्नों में है, जिसमें कुल १२४ श्लोक हैं। साथ ही बड़े दुख के साथ यह भी लिखना पड़ रहा है कि यह पुस्तक अपने में पूर्ण नहीं है। इसमें ९-१०-११-१२ पन्ने अनुपलब्ध हैं। इसकी प्रतिलिपि श्री शाके १५३० किलक नाम सम्वत्सर के श्रावण मास में जनार्दन के पुत्र श्री गोविन्द-शरण के द्वारा स्वार्थ एवं परार्थ के लिये की गई है। अधिकांश अपना नाम गोत्र परिचय आदि देना अनुचित सा मानने वाले संस्कृत विद्वानों की परम्परा के अनुकूल टीकाकार श्री मल्लिनाथ के सुत का कोई परिचय नहीं दिया गया और न टीका में किसी प्रकार का उनके परिचय प्राप्त करने का संकेत ही उपलब्ध होता है। श्री बलदेव उपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'आचार्य सायण और माधव' में मल्लिनाथ के एक पुत्र का उल्लेख किया है जिसका नाम कपर्दी था और उसने श्रौतकल्प पर कारिका वृत्ति लिखी था। प्रमाण में उन्होंने कपर्दी का एक परिचयात्मक श्लोक भी उद्धृत किया है।

कोलाचलान्वयाधीशः मल्लिनाथो महायशः।
शतावधानविख्यातो वीररुद्राभिमर्षितः ॥ १ ॥
मल्लिनाथात्मजः श्रीमान् कपर्दिः मन्त्रकोविदः।
अखिलश्रौतकल्पस्यकारिका वृत्तिमातनोद् ॥ २ ॥

पाद संकेत से ज्ञात होता है कि यह विवरण उन्होंने राइस-कनारीज

लिटरेचर (अं) पृ० ४२–४५, ६०–६३ से प्राप्त किया है। किन्तु उसमें भी इस टीका का उल्लेख नहीं है। इसलिये निश्चित रूप से नहीं ज्ञात होता कि यह टीकाकार मल्लिनाथ का दूसरा पुत्र था अथवा वही था, जिसका कि उल्लेख किया गया है। इस प्रकार कृति के द्वारा यशोभागिता के पात्र मल्लिनाथ के सम्बन्ध में केवल यही जानकर सन्तोष की सास लेने के लिये हम विवश हैं, कि मल्लिनाथ भी पुत्रवान् थे, और वह पुत्र रत्न 'आत्मा वै जायते पुत्रः' के अनुरूप पितृगुणों से सम्पन्न एक वरिष्ठ विद्वानों की परम्परा में आसीन हैं।

पंजरिका टीकाकार मल्लिनाथसुत का जन्म समय व जीवनवृत्त, टीकाकरने का समय आदि सब कुछ अनुमान पर ही आधारित है। उन्हे पिता के लगभग ५० वर्ष वाद ही माना जा सकता है। अतः इसका समय चौदहवीं या पन्द्रहवीं शताब्दी होना सम्भव है।

विभिन्न टीकाकारों के दृष्टिकोण से मेघदूत के श्लोकों की संख्या भी एक सी नहीं है। मल्लिनाथ की टीका के अनुसार मेघदूत के श्लोकों की संख्या १२३ है। वल्लभदेव के अनुसार १११। दक्षिणावर्तनायक के अनुसार २१०। चरित्रवर्धनाचार्य के अनुसार १२४। भाववोधनी के अनुसार १२४ है। इसी प्रकार पद्यानुवाद कार श्री वद्रीदयाल शुक्ल के अनुसार श्लोकों की संख्या ११८ है। इन्होंने सभी प्रक्षिप्त श्लोकों का अनुवाद नहीं किया। पंजरिका टीका के लेखक मल्लिनाथसुत के अनुसार मूल श्लोकों की संख्या १२४ है। इन मतमतान्तरों के बीच उलझी हुई अनिश्चयात्मक स्थिति में यह कहना सरल नहीं है, कि मूलरूप में कालिदास ने कितने श्लोक मेघदूत में रचे थे।

मेघदूत में प्रक्षिप्त श्लोकों के क्रम के सम्बन्ध में भी बड़ी ही विविधता दृष्टिगोचर होती है, मास्टर खेलाड़ीलाल एण्ड सन्स के यहाँ से वि० सम्वत् २०११ में प्रकाशित प्रति के अन्तिम में ५ श्लोक प्रक्षिप्तश्लोक कहकर लिखे गये हैं। उनमें प्राचीन टीकाकारों की टीका नहीं है।

केवल उनमें श्री मन्नालालअभिमन्यु कृत 'कादम्बिनी' नामक हिन्दी टीका है। ये श्लोक निम्नलिखित हैं :—

१. इत्याख्याते सुरपतिसख: शैलकुल्यापुरीषु.......
२. तस्मादद्रेर्निसादितमथा......
३. तंसन्देशंजलधरवरो.......
४. श्रुत्वावार्ता जलदकथिताम्........
५. इत्थंभूतं सुरचितपदम्......

इसमें अन्तिम श्लोक मेघदूत की कथावस्तु से सम्बन्धित न होकर विनम्रता प्रदर्शन एवं कालिदास रचित होने का परिचय मात्र है। शेष श्लोक मध्य में ही लिखे गये हैं। पूर्व मेघ में श्लोक नं० १८ 'छन्नोपान्त: परिणत'.......के अनन्तर 'अध्वक्लान्तं प्रतिमुखगतं'.......यह श्लोक प्रक्षिप्त माना गया है। इसमें मल्लिनाथ की टीका नहीं है। इसके अनन्तर श्लोक संख्या २१ 'नीपंदृष्ट्वा हरितकपिशं'........के अनन्तर १—'अम्भोविन्दुग्रहणचतुरां'........यह प्रक्षिप्त श्लोक है। इसमें मल्लिनाथ की टीका है। श्लोक ३१ 'दीर्घीकुर्वन् पटुमदकल'...... के अन्तर।

१. हारांस्तारांस्तरलगुटिकान्.......
२. प्रद्योतस्य प्रियदुहितरम्........
३. पत्रश्यामादिनकरहय:......

उक्त ३ श्लोक प्रक्षिप्त हैं। इन पर भी मल्लिनाथ की टीका है।

उत्तर मेघ में श्लोक २—'हस्ते लीलाकमलमलके'........के अनन्तर १—'यत्रोन्मत्तभ्रमरमुखरा'........। २—आनन्दोत्थंनयनशलिलम्'... ये दो श्लोक प्रक्षिप्त हैं। इनमें भी मल्लिनाथ की टीका है। इस प्रकार इस प्रति में प्रक्षिप्त श्लोकों की संख्या १२ है।

चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस बनारस द्वारा वि० सं० २०१० में संजीवनी, चरित्रवर्धिनी, भावबोधिनी, सौदामिनी, इन व्याख्याचतुष्टय के साथ प्रकाशित होने वाली प्रति के अन्त में :—

१. **तंसन्देशंजलधरवरो**.......

२. **श्रुत्वा वार्ताजलदकथिताम्**........

ये दो ही श्लोक हैं। इनमें चरित्रवर्धनाचार्य की टीका है। शेष श्लोक उक्त पुस्तक के अनुसार ही प्रक्षिप्त हैं। इस प्रकार इसमें प्रक्षिप्त श्लोकों की संख्या ९ ही है। इन सब में चरित्रवर्धनाचार्य की टीका है। केवल '**अध्वक्लान्तप्रतिमुखगतं**'........इस श्लोक में चरित्रवर्धनाचार्य की टीका नहीं है। इस प्रकार पूर्व मेघ में प्रक्षिप्त माने गये श्लोकों में उक्त श्लोक की टीका प्रसिद्ध आचार्यों के द्वारा नहीं की गई।

रामवन में उपलब्ध हस्तलिखित मल्लिनाथसुत विरचित 'पंजरिका' टीका को स्थिति उक्त प्रतियों से सर्वथा भिन्न एवं एक नई दिशा को प्रस्तुत करती है। इसमें प्रक्षिप्त श्लोकों का कोई संकेत नहीं है। सभी श्लोकों को मूल श्लोक मानकर हो सामान्यतः टीका लिखो गई है। श्लोकों के क्रम में भी सर्वथा नवीनता है। '**पत्रश्यामादिनकरहयः**'.......यह श्लोक जो अन्य प्रतियों के पूर्वमेघ श्लोक ३१ के अनन्तर प्रक्षिप्त '**हारांस्तारान्**'....आदि तीन श्लोकों में अन्तिम श्लोक है। उसे पंजरिका में उत्तरमेघ का श्लोक मानकर '**पत्रश्यामा**' के स्थान में '**शिष्यश्यामा दिनकरहयः**' यह पाठ भेद स्वीकार करते हुए, '**विद्युत्वन्तं ललित-वनितासेन्द्राचापं सचित्राः**' इस श्लोक के अनन्तर लिखा गया है। पंजरिका टीका में पूर्व तथा उत्तरमेघ का विभाजन भी नहीं किया गया है। श्लोकों की संख्या आदि से अन्त तक क्रमवद्ध हैं। अतः उक्त श्लोक की क्रम-संख्या ६८ है। इसी प्रकार अन्य प्रतियों में प्रकाशित उत्तर मेघ के—'**यत्रोन्मत्तभ्रमरमुखराः**'........तथा 'आनन्दोत्थं **नयन-**

शलिलम्'.... इन दोनों श्लोकों को—'हस्तेलीलाकमलमलके'.... इस श्लोक के अनन्तर लिखा गया है। किन्तु पंजरिका टीका में उक्त दोनों श्लोकों को 'नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलम्'...श्लोक ७२ के अनन्तर ७३–७४ संख्या में लिखा गया है।

क्रमभेद (पूर्वमेघ)

प्रचलित	पंजरिका में
१. छन्नोपान्तः १८	१. छन्नोपान्तः १८
२. अध्वक्लान्त १६	२. स्थित्वातस्मिन् १६
३. स्थित्वा २०	३. तस्यास्तिक्तः २०
४. तास्यास्तिवते २१	४. नीपंदृष्ट्वा २१
५. नीपंदृष्ट्वा २२	५. अम्भो विन्दु २२
	६. उत्पश्यामि २३

पंजरिका में पाठ सम्बन्धी दूसरी विशेषता यह है कि अन्य प्रतियों की अपेक्षा श्लोकों का क्रम भी सर्वथा भिन्न है। प्रचलित पुस्तकों के उत्तर मेघ के १४ श्लोकों का क्रम पंजारिका में सर्वथा दूसरे क्रम से दिया गया है जिसकी सूची इस प्रकार है :—

उत्तर मेघ

प्रचलित पुस्तकों का क्रम	पंजारिका टीका का क्रम	
१. विद्युत्वन्तं ललितवानिता	१. विद्युत्वन्तं ललितवानिता	६७
२. हस्तेलीलाकमलमलके	२. शिष्यश्यामादिनकरहयः	६८
३. यत्रोन्मत्तभ्रमरमुखरा (प्रक्षिप्त)	३. हस्तेलीलाकमलमलके	६६
४. आनन्दोत्थं नयनशलिलं ,,	४. यस्यां यक्षा सितमणिमयान्येत्य	७०
५. यस्यांयक्षाः सितमणिमयान्येत्य	५. गत्युत्कम्पादलकपतितैः	७१
६. मन्दाकिन्याः शलिलशिशिरैः	६. नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलम्	७२

७. नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं	७. आनन्दोत्थं नयनशलिलम्	७३
८. नेत्रानीता सततगतिना	८. यत्रोन्मत्तभ्रमरमुखराः	७४
९. यत्रस्त्रीणां प्रियतमभुजा	९. नेत्रानीता सततगतिना	७५
१०. अक्षय्यान्तर्भवननिधयः	१०. अक्षीणान्तर्भवननिधयः	७६
११. गत्युक्तम्पादलकपतितैः	११. मदाकिन्याः शालिलशिशरैः	७७
१२. मत्वादेवं धनपतिसखं	१२. वासश्चित्रं मधुनयनयोः	७८
१३. वासश्चित्रं मधुनयनयोः	१३. यत्रस्त्रीणां प्रियतमभुजा	७९
१४. तत्रागारं धनपतिगृहात्	१४. मत्वादेवं धनपतिसखम्	८०
	१५. तत्रागरं धनपतिगृहात्	८१

यही नहीं पंजरिका टीका में एक श्लोक इस प्रकार का भी है जो अन्य पुस्तकों में अनुपलब्ध है। प्रचलित पाठ के अनुसार **'श्यामास्वङ्ग** चकितहरिणी' श्लोक ४१ तथा **'त्वामालिख्य** प्रणयकुपिताम्' **श्लोक ४२** इन दोनों श्लोकों के बीच में पंजरिका टीका में, 'धारासिक्तेति' यह प्रतीक देकर एक और श्लोक लिखा गया है, जिसकी श्लोक संख्या १११ है। पुस्तक में श्लोक न दिये जाने के कारण मूलरूप में इस श्लोक की छन्दोबद्धता कैसी थी, यह कहना कठिन है। किन्तु टीका उसकी निम्नलिखित प्रकार से की गई है, जिससे शब्दावली के क्रम का ज्ञान तो नहीं पर भाव और शब्दों का ज्ञान तो हो ही जाता है। यथा :

धारासिक्तेति—भो वाले मां पंचवाणः कुसुमेशुःक्षिणेति हिनस्ति। किंविधं प्रतनुमपि कृशमपि। पुनः कथं भूतं त्वन्मुखस्य दूरीभूतमबिषयम्। किं विधस्य धारासिक्तस्थलसुरभिणः धाराभिः सिक्तं यत्स्थलं तद्वत् सुरभिः सुगन्धिः तस्ययस्मिन्। घर्मान्ते ग्रीष्मावसाने। वासराणि दिनानि। कथं व्रजेयुः इति विगणय्य आगच्छवान्। दिवसवासरे। किंविधानि दिक्संसक्तप्रविरलधनव्यक्तसूर्यातपानि-दिक्षु संसक्ताः संवद्धा प्रविरलाः घनाः मेघास्तैः च व्यक्तः सूर्यात् यो रविप्रकाशो येपुतानि ॥१११॥

इसी प्रकार पंजरिका टीका में प्रचलित श्लोकों से पाठ भी बहुत श्लोकों में भिन्न हैं। यद्यपि पाठान्तर से प्राय: भावों में कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता तो भी यह विचारणीय अवश्य है कि यह पाठान्तर तत्कालीन प्रचलित पुस्तक से वर्तमान में इतनी भिन्नता क्यों रखता है। साथ ही इस पर भी प्रकाश पड़ता है कि विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध से लेकर अब तक कितने पाठान्तर हुए। निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि महाकवि कालिदास के मूल श्लोकों का पाठ क्या था उनका क्रम क्या था। यह सब विचार विमर्श की शोधात्मक परम्परा में पहेली बन कर ही रह गया है। भले ही भविष्य में कोई सुधी शोधविद्वान् इस पहेली को सुलझाने में कृतकार्य हो जाय। पाठान्तरों की सामान्य सूची एक उदाहरण के रूप में इस प्रकार है :—

पूर्वमेघ

प्रचलित पाठ	पंजरिका टीका का पाठ	श्लो० सं०
१. कौतुकाधान हेतोः	१. केतकाधानहेतोः।	३
२. जीवितालम्बनार्थी प्रीतः	२. जीवितालम्बनार्थम् सुष्टः	४
३. चातकस्तेसगन्धः	३. चातकस्ते सगर्वः	९
४. वान्तवृष्टिः जग्ध्वा	४. वातवृष्टिः जग्ध्वा	२०
५. अम्भोविन्दुग्रहणचतुरान्	५. अम्मोविन्दुग्रहणरभसान्	२१
६. उद्दामानि	६. उत्कृष्टानि	२६
७. स्खलितसुभगम्	७. संवलितसुभगम्	२९
८. सात्वतीतस्य	८. तामतीतस्य	३०
९. अध्वखेदं नयेथाः	९. अध्वखिन्नान्तरात्मा	३५
१०. कमलवदनात्	१०. कमलनयनात्	४२
११. प्रपन्ने	११. प्रसन्ने	४३
१२. विवृतजघनाम्	१२. विपुलजघनाम्	४४

१३. पश्चार्द्धलम्बो	१३. पूर्वार्धलम्वी	४५
१४. मुक्ताजालैस्तनपरिसर-च्छन्नसूत्रैः	१४. मुक्तालग्नस्तनपरिसर-च्छन्नसूत्रैः	७१
१५. हृदयनिहितैः	१५. मनसि निहितैः	८६
१६. विरहदिवसस्थापितस्य	१६. गमनदिवसस्थापितस्य	९३
१७. अवनिशयनां सोधवातायनस्थः	१७. अवनिशयनासन्नवातायनस्थः	९४
१८. विरहमहतीम्	१८. विरहजनितैः	९६
१९. सभी द्वितीयान्त शब्द है	१९. वे प्रथमान्तशब्द है	९७
२०. नन्वात्मानम्	२०. इत्यात्मानम्	१२६
२१. ध्वंसिनः	२१. प्रध्वंसिनः	११९
२२. प्रत्यादेशात्	२२. प्रत्याख्यातुम्	१२१

प्रस्तुत पंजरिका टीका खण्डान्वय पद्धति का आश्रय लेकर लिखी गई है, जो ज्ञान की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसमें प्रथम विशेष्य तदनन्तर विशेषण "कथंभूतः" आदि प्रश्नों के उत्तर के रूप में बताये जाते हैं। फलतः जिज्ञासु को श्लोक के अन्वित शब्दों के परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान तथा श्लोक की भावात्मक अन्तरात्मा के आत्मसात् करने में बड़ी ही सहायता प्राप्त होती है। इस पद्धति के टोका की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि प्रथम वाक्य में ही श्लोक के मूल भूत उद्देश्य तथा तथ्य का तत्काल ज्ञान हो जाता है। क्योंकि प्रथम वाक्य, कर्ता, कर्म, क्रिया के रूप में ही पूर्ण वाक्य सा होता है। टीका को सुबोध एवं ज्ञानवर्धक बनाने के उद्देश्य से शब्दों की व्याकरण की दृष्टि से व्युत्पत्तिका यथास्थान निर्देश किया गया हैं। कोश का उल्लेख बहुलता के साथ दृष्टिगोचर होता है। कवि की भावनाओं को अभिव्यक्त करने के लिये टीकाकार ने प्रश्नोत्तर शैली का आश्रय लिया है। यथा श्लोक ७ में "त्वमेव कथं नगच्छेः किं सन्देशेनेत्याह......"। एक ही शब्द के भावों को कई प्रकार से प्रस्तुत कर कवि की भावनाओं को अधिक स्पष्ट एवं हृदयहारी बना दिया गया है। यथा

श्लोक ६ में "तेन," इस उपसंहारात्मक शब्दको महाकुलत्वेन, इन्द्रधुर धारकत्वेन, इच्छारूपत्वेन, त्रिभुवनप्रसिद्धत्वेन च, इन चार भावों के कारणों से स्पष्ट किया गया है। श्लोकों की अवतारणा में ही भावाभिव्यंजन का प्रयास टीकाकारके प्रौढ़ ज्ञान का परिचायक है। यथा श्लोक ८ में, "इदानीं पथि कान्तानां दर्शनव्याजेन मेघं प्रलोभयन्नाह", इस वाक्य से ही श्लोकगत भावना झाकने लगती है। इक्कीसवें श्लोक में सारंग शब्द को लेकर, जिसका कि अन्य टीकाकारों ने सामान्य चातक अर्थ लिख कर ही कर्तव्य पूरा किया है, पंजरिकाकार ने कोश की सहायता तथा व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को लेकर सारंग शब्द की भृङ्ग, मृग, हाथी, चातक, इन चार अर्थों को लेकर व्याख्या की है। "सारंगास्ते जललवमुचः सूचयिष्यन्तिमार्गम्" सारंग तुम्हारे मार्ग को सूचित करेंगे, इनके भाव अलग-अलग इस प्रकार लिखे गये हैं :

१. नीपं दृष्ट्वा अलयो गुंजन्ति इति ते मार्गसूचने हेतुः।

२. कदलीं रन्तुं हरिणाः विचरन्तीति सूचने हेतुः।

३. मेदिन्याः गन्धं गृहीत्वा करिणो सलीलं गच्छन्तीति सूचने हेतुः।

४. चातकाः प्रावृट्चिन्हं प्रेक्ष्य सूचयिष्यन्ति।

जहाँ मेघदूत एक ओर साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से सहृदयों का हार है, वहाँ दूसरी ओर उसका भौगोलिक महत्व भी अपना कम नहीं है। भौगोलिक स्थानों की स्थिति के सम्बन्ध में भी पंजरिका टीका का अपना एक विशिष्ट स्थान है। तीसरे श्लोक में सिन्धुनन्दी का वर्णन है। मल्लिनाथ की दृष्टि से सिन्धु नामक नदी इस प्रदेश में नहीं है। किन्तु उनका यह भ्रममात्र है। क्योंकि मालवा में काली सिन्धु नामक नदी वंगो से मिलकर चम्बल में गिरती है। एक दूसरी भी छोटी-सी सिन्धुनामक नदी है, जो देवास से निकलकर उज्जैन जिले में बहती हुई चम्बल में

गिरती है। इससे प्रतीत होता है कि पंजरिकाकार को मल्लिनाथ की अपेक्षा भूगोल का अधिक ज्ञान है।

टीकाकार ने जहाँ एक ओर व्याकरण की व्युत्पत्ति तथा कोश आदि का दिग्दर्शन कराया है, वहाँ दूसरी ओर वह शब्द सौन्दर्य के प्रति; कोमल शब्दावली के प्रति उदार भी हैं। बासठवें श्लोक में **'स्तिमितनयन-प्रेक्षणीयां'** का पर्याय **'अलोललोचनावलोकनीयाम्'** कितना मधुर है।

'प्रायेण सम्यज्ञविधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृज: प्रवृत्तिः' इस उक्ति के अनुसार उक्त विशेषताओं के साथ पंजरिका टीका में कुछ न्यूनतायें भी स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होती हैं। किसी-किसी श्लोक की टीका बहुत ही शिथिल है। जैसे पंचम श्लोक की टीका बहुत ही शिथिल एवं साधारण है। यह भी देखा जाता है कि टीका में उत्तरोत्तर शैथिल्य आता गया है। अन्तिम चरण में टीका का रूप पर्यायात्मक ही रह गया है। जबकि उनकी विशद् व्याख्या की जा सकती थी। सम्भव है, टीकाकार को संक्षेप शैली का विस्तार के भय से आश्रय लेना अनिवार्य हो गया हो। दूसरी बात एक और भी विचारणीय है कि टीका में सन्धियों के प्रति उदासीनता दिखाई गई है। खण्डाकार का तो कहीं प्रयोग ही नहीं किया गया। इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि यह दोष मूल टीकाकार का है, अथवा लिपिकार का, किन्तु पाण्डित्य की दृष्टि से यह खटकनेवाली बात अवश्य है।

इन सभी कारणों के रहते हुए भी सब कुछ मिलाकर मल्लिनाथसुत विरचित यह पंजरिका टीका संस्कृत साहित्य के कोष की श्रीवृद्धि में एक बहुत बड़ी देन है। इसमें संस्कृतानुरागियों को अनुरंजित करने की पूर्ण क्षमता है।

●

मेघदूत की पृष्ठभूमि

अस्पृष्टदोषा नलनीव दृष्टा हारालीवग्रथिता गुणौघैः ।
प्रियाङ्कपालीव विमर्दहृद्या न कालिदासादपरस्य वाणी ॥
(कृष्णकवि)

आदिकवि महर्षि बाल्मीकि की पेलव काव्यपरम्परा का उत्तराधिकार प्राप्त कर साहित्य संसार को अनुपम कृतियों के कमनीय रत्नों से जगमगा देनेवाले महाकवि कालिदास ने जिस रसमय पद्धति का समारोपण किया वह अब तक महाकवि को कनिष्ठिका में ही आसीन किये हुये हैं । सौंदर्य एवं प्रेम का संदेश देनेवाले महाकवि ने काव्य की जिस विधा को छू लिया वह अमर हो गई । कुमारसंभव तथा रघुवंश में आदर्शोन्मुख प्रेम की मधुर कल्पना में कवि को नायक नायिकाओं के परस्पर मिलन एवं तिरोधान की आँख मिचौनी में न जाने कितने अवसर रोने, रुलाने एवं विकलता में विक्षिप्त भावना के प्रलापों की अभिव्यक्ति के अवसर प्राप्त हुये हैं । अज विलाप में जहाँ एक ओर अज इन्दुमती के लिये 'स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम्' कहकर अपने जीवन से भी उदासीन हैं वहाँ इन्दुमती अजके प्रति मौन एवं उदासीन है । इस एकांगी प्रेम की अनुभूति, संभव है उतनी तीव्र नहीं बन पाई जो प्रेमी एवं प्रेमिका के हृदय को झांकने का अवसर दे । रघुवंश के चतुर्दश सर्ग में मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम द्वारा लोकाराधन की बलिवेदी पर जानकी की स्वयं दी गई बलि की पीड़ा में, जानकी-जीवन की विकलता पुटपाक बनकर रह गई । उसे बाहर निकाल देने का अवसर न पाकर कवि कुसमुसाकर रह गया है । न जाने कितने अपार व्यथासागर, मर्यादा को

मेंड़ में कवि अपने हृदय में ही संजोये रह गया। उसे उड़ेल देने का अवसर नहीं मिल सका। कुमारसंभव में जहाँ एक ओर कवि आराधना एवं संयोग पक्ष के कमनीय चित्रों के चित्रण में व्यस्त दिखाई देता है वहाँ दूसरी ओर शिव-पार्वती की विभिन्न तपश्चर्यायों प्रेम एवं समाधि वर्णनों में, उदात्त एवं संश्लिष्ट भावनाओं के रूपों में, शिवत्व के अभिव्यंजन में अनुरत प्रतीत होता है।

लोकानुभूतियों एवं सांसारिक सामान्य मानवीय व्यवहार के प्रवीण पुरोहित, एक संसारिक के रूप में अपनी अलौकिक प्रतिभा का संबल लेकर नाटकों के रस सरोवर में अवतरित होने वाले नाटककार कालिदास ने प्रेम मूलक कथावस्तु को, मानव हृदय में उदित होनेवाली समस्त संभावित वृत्तियों का, लोक व्यवहार के साथ पूर्ण सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है। प्रेम सौन्दर्य की नाना अवस्थाओं का दिग्दर्शन नाटकों में बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से किया गया है। मालविकाग्निमित्र में जहाँ एक ओर राजसी वैभव के विलासपूर्ण वातावरण में पनपने वाला यौवन सुलभ प्रेम, प्रेमी एवं प्रेमिका के लिये आँखमिचौनी का रूप धारण कर संयोग में परिणमित होता है वहाँ विक्रमोर्वशीय में यौवन की उद्दाम कामुकता पुरुष को प्रेमिका के वियोग में विकल एवं प्रेमान्ध बना देती है। शाकुन्तल का प्रेमनिरूपण इन दोनों परिस्थितियों से भिन्न है। उसमें तप एवं साधना द्वारा विशुद्ध होनेवाला प्रेम अग्नि संस्कृत कांचन के समान अभिराम है।

किन्तु प्रेम की मनोरम भूमि में उगनेवाली महाकवि की प्रेमात्मक कल्पना को वह स्वतन्त्र मनोभाव भूमि नहीं प्राप्त हो सकी जिसमें कल्पनाओं की असीमित भूमिका में कवि यह अभिव्यक्त कर सकता है कि इस जगत् के अन्तराल में मानवीय भावनाओं की कोमल कल्पना में सब कुछ सम्भावित है। फलतः कवि की असीमित भावभूमि, अपने सौन्दर्य का आँचल फैलाए हुए काव्यनन्दन में माधवी लता के समीप विवश किसी

की राह देखती रही, उन्हीं भावों को भूमिका में कवि की काल्पनिक सांसारिकता, प्रेम के परिधान में मेघदूत के रूप में साकार हो उठी, जहाँ केवल प्रेम है, स्नेह है, लालसा है और तीव्रतम अनुभूतियों की भावभूमि में आत्मसमर्पण की अजेय परवशता है। वाल्मीकि के इस चेले को, आकाश में उड़नेवाले मैथिलीदूत की जो एक सूक्ष्म कल्पना की झलक रामायण में मिल पाई थी उसे उसने वह रूप दिया, इतना सुन्दर सँवार किया, इतने रंगों से भर दिया कि अपने गुणों की गरिमा में वह अनूठी बनकर रह गई और रसपिपासु आनन्दमग्न हो गये।

●

काव्य-सौन्दर्य

मेघदूत कालिदास की अनुपमेय काव्य सर्जना का पावन विलास है। रामायणीय पृष्ठभूमि की एक सूक्ष्म छाया में महाभारतीय हंसदूत का संमिश्रण इसके मौलिक विषयोस्थापन के मनोहर शिल्पविधान में, दूत कार्य की मूल भावना के रूप में, भले ही योगदान किया हो किन्तु युवक दम्पति के विलासमय आनन्दपूर्ण क्षणों के रेखाचित्रों के ताने-बाने के, धनपति के एकही लघु शब्द की हुंकार से छिन्न-भिन्न हो जानेपर, अपनी विलासभूमि अलका से दूर-बहुत दूर उस विश्रामस्थलो-रामगिरि के आश्रमों में वर्षावधि उन विकल दिवसों को पार करने के हेतु विवशावस्था में पड़े हुए उस यक्षद्वारा वियोग व्याकुल प्रियतमा के जीवनावलम्बन हेतु प्रणय-सन्देश प्रेषित करना, कवि की मौलिक कल्पना है। प्रेमियों के परस्परानुराग की पावन गीता है, विरही के व्यथामय आँसुओं की करुण कथा है, और मानव हृदय के सुकुमार स्नेही भावनाओं की साकार सरस्वती है। जिसे कवि उड़ेल-उड़ेल कर भी स्वयं प्यासा ही दिखाई देता है, साथ ही सहृदय रस-पिपासुओं को सतृष्ण ही देखना चाहता है।

कुछ ही वाक्यों में वर्णित की जानेवाली सन्देश कथा को कवि ने १२५ श्लोकों में उपनिबद्ध किया है। अबतक उपलब्ध होनेवाली अन्य पुस्तकों में पूर्व मेघ एवं उत्तर मेघ इन दो भागों में कथावस्तु को विभाजित किया गया है। पूर्व मेघ में रामगिरि से अलका तक के मार्ग का वर्णन है। उत्तर मेघ में अलका एवं विरहिणी का पावन परिचय तथा संदेश कथन है। प्रस्तुत पुस्तक में बिना किसी सीमा के ही वह विरही यक्ष एक ही साँस में अपनी विकल वेदना उस श्यामल मेघ से कह सुनाता है।

मेघदूत के प्रथम श्लोक के पढ़ते ही सहृदय पाठक के सम्मुख रामगिरि के पावन आश्रम एवं उसमें वियोगी उस कृशकाय यक्ष की क्षाम एवं विषादपूर्ण मुखाकृति साकार हो उठती है। सहानुभूति भरे हृदय से पाठक यक्ष के साथ हो जाता है और उसकी समस्त व्यथाओं में तादात्म्य का अनुभव कर खिन्न हो उठता है। उस यक्ष का हृदय इतनी व्यथाओं से भरा हुआ है कि डूबते को तिनके के सहारे की भाँति मेघ को देखते ही अपनी ललक बुझाने के लिये शरणागत होकर एक याचक के रूप में दैन्य प्रकट करते हुए प्रार्थना करता है कि हे पयोद ! मैं धनपति के क्रोध का भाजन बन गया हूँ, अतः मेरा सन्देश प्रियतमा तक पहुँचा दो—

> संतप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद ? प्रियायाः,
> सन्देशं मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य।
> गन्तव्या ते वसतिरलकानाम यक्षेश्वराणां,
> बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या ॥

अलका की ओर प्रस्थान करने के पूर्व वह मेघ से निवेदन करता है कि बन्धु ! सर्वप्रथम तुम अपने प्रिय सखा रामगिरि से प्रेमालिङ्गन कर अनुमति ले लो। श्रीराम के पदचिह्नों से इसका हृदय चिह्नित है। ऐसा लगता है कि जानकी वियोग के अनन्तर पुनर्मिलन की आनन्दमयी सौभाग्यशालिता वाले श्रीराम के समान अपनी लालसा को प्रियामिलन के रूप में वरदान प्राप्त करने की धारणा आनन्द से भर रही हो और इसी आशा से वह अपने सन्देशवाहक से उस सन्निहित रामगिरि से लिपट कर मिलने के लिए प्रेरित कर रहा है। क्योंकि समय पर मेघ सर्वदा रामगिरि से आँसू बहाकर स्नेह व्यक्त करते हुए मिला करता है। कितनी मधुर पदशय्या में वे सुन्दर भाव आपसे आप ध्वनित हो रहे हैं, भावना साकार-सी हो रही है। यथा :—

आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्य शैलं,
वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु ।
काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य,
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो वाष्पमुष्णम् ।।

इसके अनन्तर यक्ष द्वारा रामगिरि से अलका तक के मार्ग का निर्देश जहाँ एक ओर भौगोलिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है जिसमें मालक्षेत्र, आम्रकूट, विन्ध्य के पादों में विशीर्ण रेवा, विदिशा, सिप्रा, उज्जयिनो, ब्रह्मावर्त, सरस्वती नदी, कनखल, हिमालय, क्रौन्चरन्ध्र, कैलाश एवं अलका आदि का बड़ा ही स्पष्ट वर्णन है, रेखाचित्रों के दृश्यों की मनोरम झाँकी है, वहाँ दूसरी ओर साहित्यिक दृष्टि से विभिन्न अलंकारों द्वारा अभिव्यति सौन्दर्य एवं मानवीय भावनाओं के कोमल रूपों को अपने हृदय में संजोये हुए हैं। जिनमें भावचित्रों एवं मार्मिक अनुभूतियों की एक टीस-सी छिपी हुई है। कुछ झाँकियाँ देख लीजिये :—

आकाश-मार्ग में द्रुतगति से जाते हुए मेघ की शोभा एक वायु के झोंके से उड़ते हुए पर्वतशिखर के समान है। उड़ते हुए पर्वत की भ्रान्ति से भोली सिद्धाङ्गनाओं का चकित दृष्टि से देखना स्वाभाविक ही है। आकाश-मार्ग से जाते हुए मेघ के सौन्दर्य की यह अनूठी कल्पना कालिदास जैसे कवि से ही संभव हो सकती है, जो वर्णन के साथ एक दृश्य भी उपस्थित कर देती है। पढ़ते ही ऐसा प्रतीत होता है मानो मेघ उड़ता हुआ नेत्रों के समक्ष जा रहा हो :—

अद्रेः शृङ्गं हरति पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभिः
दृष्टोत्साहश्चकितचकितं मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः ।

अपनी अनुभूतियों के साम्य की संभावना में व्यक्ति स्वभावतः सहानुभूति से तादात्म्य का अनुभव करने लगता है। यक्ष का संतप्त हृदय

किसी भी व्यक्ति के संताप को सहन करने में असमर्थ है। वह उसके संताप को तत्काल किसी-न-किसी उपाय से शान्त देखना चाहता है। कवि हिमालय की उस प्राकृतिक सुषमा में भी बाह्य-सौन्दर्य के साथ आन्तरिक ताप देखता है। साथ ही संतापनाशक उस मेघ से अपनी दयनीयता को भी इङ्गित करता है कि हे श्रेष्ठपुरुष मेघ! तुम्हारी इस संतापनाशक शक्ति का सदुपयोग हम जैसे आपन्न व्यक्तियों की पीड़ा का हरण किया जाना ही है। महाकवि कालिदास ने इस अर्थान्तरन्यास में कितनी गूढ़ व्यंजनाओं को सँजोया है :—

तं चेद् वायौ सरति सरलस्कन्धसंघट्टजन्मा,
बाधेतोल्काक्षपितचमरीबालभारो दवाग्निः।
अर्हस्येनं शमयितुमलं वारिधारासहस्रै-
रापन्नार्तिप्रसमनफला सम्पदो ह्युत्तमानाम् ॥

उज्जयिनी के सौधोत्संगों में विश्राम कर, नवनायिकाओं के लीलापाङ्गों के विलास का आनन्दानुभव कर, भगवान् भूतभावन की नैश पूजा के नीराजन में मृदंग-वादन की भक्तिभावना को प्रगट करने के अनन्तर मार्ग में विभिन्न वनिताओं के संपर्क का आनन्द लेता हुआ मेघ प्रणयी कैलास की गोद में आसीन उस अलका की ओर उन्मुख होता है। जहाँ स्वयं मेघ भी मुक्ताजाल से ग्रथित अलकावली बन जाता है। कैलास के अनुकूल नायकत्व एवं अलका के स्वाधीन पतिका के रूप में वर्णित, श्लेष परिपोषित उपमा का सौन्दर्य कालिदास की सूझ का अनुपम दृश्य है। प्रेमी कैलास की गोद में छुटी हुई साड़ीवाली अलका का वह प्रणयासन एक चित्र उपस्थित कर देता है। विरही यक्ष की नगरी का कितना अनुरूप परिचय है :—

तस्योत्संगे प्रणयिन इव स्रस्तगंगादुकूलां,
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन्।

यही नहीं कालिदास की अलका विलास के अपूर्व साधनों से संपन्न उन विलासियों की आवास भूमि है जहाँ अकेले कल्पवृक्ष ही समस्त सौन्दर्य सामग्री वितरित करता है। नैशकेलि में अभिसारिकाओं के बिखरे हुए मौक्तिक जाल राजमार्ग में चौंके पूर देते हैं। नायिकाओं के भ्रू-विलास ने मनसिज के शरासन को विश्राम दे दिया है और वह वियोगिनी का आवास जो धनपति के भवन से समीप एवं उन्नत तोरण द्वार के कारण दूर से ही दिखाई देता है, उसमें इन्द्रनील मणियों द्वारा रचित शिखरवाला, क्रीड़ापर्वत जो कनक-कदली से परिवेष्टित है, एकाएक उस वियोगी के मन में उसे साकार बना देता है। यक्ष कहता है कि हे जलद! वह क्रीड़ाशैल मेरी गेहिनी को बहुत ही प्रिय है, इसलिए चमकती विद्युत से युक्त तुम्हें देखकर मैं उसका बार-बार स्मरण कर रहा हूँ। इस स्मरणालंकार में मेघ के स्वरूप एवं क्रीड़ाशैल के सादृश्य की कितनी सुन्दर कल्पना है, एक ओर विद्युत् की पीत दीप्ति तो दूसरी ओर कनक-कदली की पीत आभा। इस ओर मेघ का श्याम स्वरूप तो उस ओर नील-मणि की श्यामता। एक चित्र-सा उपस्थित हो जाता है।

मद्गेहिन्याः प्रिय इति सखे चेतसा कातरेण,
प्रेक्ष्योपान्तस्फुरिततड़ितं त्वां तमेव स्मरामि।

मधुर प्रेममय कल्पनाओं के उपादानों का समन्वय लेकर कालिदास की भावभूमि में अवतरित होनेवाली नायिका का वह कारुणिक सौन्दर्य जिसमें प्रेमी आराधना में आराधक के स्वरूप में करुण आँसू, आत्मसमर्पण, ध्यान एवं तादात्म्य के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, अलौकिक है। सौन्दर्य राशि वह विरहिणी विधाता के सृष्टि की कला का मधुर उन्मेष है। उसके प्रत्येक अवयवों के मनोरम सन्निवेश की अनुपमेयता दैवी-सम्पत्ति है।

तन्वी श्यामा शिखरिदना पक्वबिम्बाधरोष्ठी,
मध्येक्षामा चकितहरिणी प्रेक्षणानिम्नाभिः ।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रास्तनाभ्यां,
या तत्रस्यात्युवति विषये सृष्टिराद्येव धातुः ॥

प्रिय के अभाव में वियोगी के लिये उनकी प्रिय वस्तु ही मनोविनोद का अवलंबन होती है। असहाय वह विकल वनिता कभी तो देवों की मनौती में बलि प्रदान करती है। कभी वियोग कृश प्रियतम की भावानुरूप आकृति उल्लिखित करती है और कभी समीप के पिंजड़े में बैठी हुई सारिका से उनके स्मरण की बात पूछती है। मन को किसी प्रकार शान्ति न मिलने पर वीणा लेकर प्रियतम के नाम को गीता का ही गान करने लगती है पर भाव-विभोर हो जाने पर आँसुओं की झड़ी लग जाती है तो वीणा भी भींग जाती है और लय-ताल भी भूल जाते हैं। रोते-रोते आँखें सूज गई हैं, उष्ण श्वासों से अधरपल्लव सूख गये हैं, हथेली पर थमा हुआ लटकी हुई अलकोंवाला मेघाच्छन्न चन्द्रबिम्ब-सा वह क्षाम आनन, किसे सहानुभूति से नहीं भर देता :—

कालिदास के शब्दों में :—

नूनं तस्याः प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं प्रियायाः,
निश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम् ।
हस्तन्यस्तं मुखमसकलव्यक्तिलम्बालकत्वा-
दिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति ॥

पति वियोग से खिन्न चिन्ताकुल हृदय वाली विरहिणी का यह चित्र कितने विषाद एवं दैन्य से भरा हुआ है।

यक्ष के मन में प्रिया की सुख सुविधाओं का इतना ध्यान है कि वह किसी भी क्षण सुखी अनुभव करने की कल्पना से संतोष की अनुभूति कर लेता है। वह मेघ से निवेदन करता है कि यदि वह मेरे ध्यान का चिन्तन

करते हुये सो गई हो तो उसे जगाना नहीं क्योंकि चिन्तित व्यक्ति ही प्रायः स्वप्न में दिखाई देता है। निश्चय ही मेरी चिन्ता में व्याकुल वह विरहिणी स्वप्न में मेरे आलिंगन का अनुभव करती होगी। तुम्हारे जगाते ही उसका स्वप्न टूट जायेगा और वह अपने स्वप्नालिङ्गन से वंचित हो जायेगी। यह है कालिदास के प्रेमी की सहानुभूति जिसमें जीवन की आत्मीयता का रहस्य छिपा हुआ है।

माभूदस्याः प्रणयिनि मयि स्वप्नलब्धे कथंचित् ,
सद्यः कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थिगाढ़ोपगूढ़म् ॥

वियोगिनी को निद्रा कहाँ, उसका सारा प्रयास, उसकी वे सभी आकांक्षायें, जिन्हें वह प्रत्यक्ष के अभाव में स्वप्नावस्था द्वारा ही किसी न किसी रूप में प्राप्त करना चाहती है, पर वाह, रे भाग्य! निद्रा के स्थान में आँसुओं की बरसात आ जाती है। विधि को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी भी रूप में प्रिय संयोग का सौभाग्य देना इष्ट नहीं है। यही तो तापमय तप है जो प्रेम रूपी कांचन को कुन्दन बना देता है और उसे फिर जैसा चाहे ढाला जा सकता है। तभी तो यक्ष कहता है कि गण्डस्थल से बार-बार वेणी को हटाने वाली, शय्या के एक किनारे अत्यंत कृश कोमल कलेवर को आशा में धारण कर, पड़ी हुई उस वियोगिनी के दुःख को देखकर तुम भी धैर्य धारण नहीं कर सकोगे, तुम्हारी करुणा तुम्हें भी सहानुभूति में आँसू बहाने के लिये विवश कर देगी :—

त्वामप्यस्त्रं नवजलमयं मोचयिष्यत्यवश्यं
प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा ॥

परम स्नेही यक्ष तो वियोग व्यथा का रूप ही बन गया है। निरन्तर वियोगिनी के चिन्तन के विभिन्न संकल्पों के द्वारा कल्पना में ही मिलन व्यापार में संलग्न रहता है। विधि ने यद्यपि उसके प्रत्यक्ष पथ को अव-

रुद्ध कर दिया है पर उसकी कल्पना को कौन रोक सकता है। वह तो दुर्बलाङ्गी, संतप्त, अविरल रोदन से सूजे हुये नेत्रों वाली प्रिया से संकल्पों द्वारा आलिंगन कर ही लेता है। विरही पुरुषों को वियोगावस्था में प्रायः सादृश्य दर्शन, स्वप्न दर्शन, प्रिय की प्रतिकृतिरचना आदि विनोद के उपाय होते हैं। विरही यक्ष एक ही वस्तु में प्रियतमा के सादृश्य को न पाकर, चकित हरिणी के नेत्रों में चंचल दृष्टि को, चन्द्र में मुखच्छाया को, मयूर-बर्हभार में केशों को, सरित तरंगों में भ्रूविलास को देखने का प्रयास करता है और अन्त में विवश हो शिलातल में धातुराग से प्रियतमा की रूठी हुई सी प्रतिकृति बनाकर ज्योंही उसके चरणों में पड़कर शांति प्राप्त करना चाहता है त्योंही आँसुओं का प्रवाह दृष्टि को ढक लेता है। इस प्रकार विधाता को चित्र समागम भी इष्ट नहीं है। यह है कालिदास के वियोग की मधुरमय कठोरतम कल्पना जो उन्हें कवित्व के उच्च सिंहासन पे ला बिठाती है।

'न बिना विप्रलम्भेन संयोगः पुष्टिमश्नुते' इस कसौटी पर जीवन को खरा उतारने में उनकी वाणी सफल होती है।

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे,
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः॥

इस प्रकार कवि कल्पना का पूर्णान्तनिदर्शन यह मेघदूत प्रेमियों के विकल वेदना की मधुर मूर्ति एवं स्नेहिल हृदय से निकले हुए दम्पति के आँसुओं की मनोरम व्यथामय कथा है, जिसमें सारे विश्व की करुणा साकार हो उठी है। जिसे पढ़कर प्रत्येक सहृदय प्रेम की दीक्षा पाकर करुणा के स्वरों में गुनगुना उठता है, रस के आपूर में निमग्न हो अपने को भूल जाता है।

कालिदास की भावी कवियों को देन

महाकवि कालिदास ने जहाँ एक ओर नवीन शैली की साहित्य जगत को अपूर्व देन दी है वहाँ परवर्ती कवियों के लिए मार्ग प्रशस्त कर वे उपजीव्य भी रहे हैं। परवर्ती इन काव्य लेखकों में धोयी कवि का नाम बड़े ही सम्मान के साथ कविराज के रूप में लिया जाता है। उनके पवन दूत में कालिदास जैसी ही प्रसादगुण गुंफित शब्दावली, मनोरम भाव तथा मधुर कल्पनाओं के साथ भावसाम्य भी प्रचुर मात्रा में दिखाई देता है। साम्य के कुछ उदाहरण देखने से यह स्पष्ट हो जायेगा कि भाव ही नहीं शब्दों तक में भी धोयी जैसे कवि कालिदास के ऋणी रहे हैं :—

स्थित्वा तस्मिन् वनचरवधूमुक्तकुंजे मुहूर्तम् (मे.दू.)

हित्वा कांची वनचरवधूमुक्तकुंजे मुहूर्तम्। (प.दू.)

संसपन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः। (मे.दू.)

संसर्पन्ती प्रकृतिकुटिला दर्शितावर्तचक्रम्। (प.दू.)

इस प्रकार भावी दूत काव्य के कवियों के लिये प्रभावशील यह अनुपम कृति मेघदूत, वरदान स्वरूप सिद्ध हुई है।

सुभाषित

महाकवि कालिदास सूक्तियों के मधुर मालाकार हैं। लोकानुभव के प्रगाढ़-चिंतन के आधार पर बद्धमूल भावना कवि की सूक्तियों में सुभाषित के रूप में अवतरित होती है। इसीलिये तो विद्वानों के कथोपकथन में सुभाषित, प्रमाणोपस्थापन के अतिरिक्त सौन्दर्य के मणिकांचन का संयोग

लाकर हृदय को स्पर्श कर लेता है। उसकी भावनामय झंकार हृदय के तारों को जीवन भर के लिये झंकृत कर देती है। तभी तो उसके माधुर्य की प्रशंसा में कहा गया है कि "सुभाषितरसस्याग्रे सुधा भीता दिवंगता" यही नहीं रुचिर स्वर वर्णपद के शिल्पकार तथा रसभाव के भावुक बाणभट्ट को कालिदास की सूक्तियों में मधुर रस से भीगी हुई आम्रमंजरी के आस्वाद का आनन्द प्राप्त होता है :—

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसार्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते ॥

मेघदूत में इन अपूर्व सुभाषित पुष्पों की माला को महाकवि ने बड़े ही सौंदर्य से सजाया है। मेघदूत की समस्त सूक्तियों का विवेचन तो अपने में स्वयं एक स्वतन्त्र विषय है तो भी कुछ सूक्तियों का रसास्वाद कीजिये—

मानव अपने जीवन की अंन्तःप्रेमात्मक वासनाओं का कितना स्नेहिल दास है। भावों के उद्दीपन की स्थिति में वह कितना उतावला हो उठता है। वह पार्श्वश्लेष के क्षणों को भी धैर्य की स्थिति में नहीं बिता सकता, ऐसी स्थिति में प्रणयी से विश्लेषित व्यक्ति की आतुरता कवि की दृष्टि में वाणी की नहीं स्वानुभव की बात हो जाती है।

मेघालोके भवति सुखितोऽप्यन्यथावृत्तिचेतः,
कंठश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे।

यही नहीं कामुकता की सीमा जब अपने अपरिमेय विकार का रूप धारण कर लेती है तो प्राणी चेतन तथा अचेतन के भेद से भी ऊपर उठ जाता है। गीता का काम के विषय में महासनत्व तथा महापापकत्व एवं सर्वापकृतत्व, शक्ति का मूलभाव, कवि की वाणी में सूक्ति के रूप में फूट निकलता है :—

"कार्माता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु"

संसार में स्वार्थसिद्धि की अपेक्षा, उसके साधन एवं साध्य तथा आश्रय की महत्ता का विशेष मूल्य है। कवि गुणवान् व्यक्ति से निराश होने की अपेक्षा निर्गुण से आशापूर्ति को निम्न मानता है। क्योंकि दाता के साथ याचक का भी मूल्य बधा हुआ है। उद्देश्यपूर्ति की अपेक्षा उद्देश्य-पूरक की महानता का, लोक में होनेवाले मूल्य का, कवि कितने सुन्दर शब्दों में आंकता है:—

याञ्चामोघावरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा।

अङ्गनाओं के कोमल हृदय की शिरीष सुकुमारताकी भी, संभव है कालिदास के अतिरिक्त और किसी ही कवि ने अनुभूति की हो। कितना कोमल है वह भावुक हृदय जिसका बन्धनावलम्बन आशाबंध हो हो सकता है। नियति के सभी बन्धन प्रयास सम्भव हैं, कवि की दृष्टि में कामिनी के प्रणयी हृदय को टूटने से बचा सकने में असमर्थ हैं। लोकानुभव की कोमल वृत्ति का यह कितना मधुर निकष है:—

आशाबन्धः कुसुमसदृशः प्रायसो ह्यंगनानाम्,
सद्यःपातिप्रणयिहृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ।।

लोक में लघुता एवं गुरुता की परिभाषा, व्यक्ति के पूर्णता एवं अपूर्णता के मापदण्ड से मापी जा सकती है:—

भरी एवं आधी गागरी के व्यापार का यह रूप, कवि ने बड़े ही समीप से झांका है।

"रिक्तः सर्वो भवतिहि लघुः पूर्णता गौरवाय।"

कवि ने "सरतीति संसारः" की परिभाषा को लोक के जीवन में, चढ़ाव उतार की झाँकी को सुख-दुखों के पट में, चलचित्र सा बड़े चाव से देखा है।

''एतन्न स्थास्यति' के दार्शनिक सिद्धांत के मनन का अनुभव प्राणियों के पतनोत्पतन दृश्यों में दृढ़बद्धमूल हो गया है। वह एक चक्र नेमि का प्रत्यक्ष उदाहरण दिखाते हुए भेरी बजाकर उद्घोष करता है कि :—

कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा,
नीचैर्गच्छत्युपरिच दशा चक्रनेमिक्रमेण।

प्रेम की परिभाषा तो कालिदास ने ही जानी है। 'न विना विप्रलम्भेन संयोगः पुष्टिमश्नुते' इस वाक्य में आलंकारिकों द्वारा संयोग की पौष्टिकता का संकेत किया गया है। उस भावना के अनुभव की उड़ान इस प्रेम के कवि की झलकियों में देखिये। वह तो कहता है कि उपभोग के अभाव में वस्तु एकत्रित होकर राशिभूत हो जाती है। कालिदास के प्रेमियों का वियोग तो प्रेम का स्तूप बनाने के लिये होता है, जो दोनों हृदयों के पोषण का मूल धन बन जाता है। वे उस प्रेम के व्याज में ही आनन्द-विभोर बने रहते हैं। फलतः कवि का वियोग आनन्द सँजोने के लिये है, विकलता के लिये नहीं। कवि के शब्दों में :—

स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा,
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसा प्रेमराशीभवन्ति।

इस प्रकार कवि का यह प्रेम-सन्देश काव्य जहाँ एक ओर वर्णन की मधुरता का सरोवर है, वहाँ दूसरी ओर लोकानुभव की प्रयोगशाला का परिणाम भी।

छन्द-विधान

यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात है कि प्रायः सभी दूतकाव्य मन्दाक्रान्ता नामक छंद में ही गुम्फित किये गये हैं। इसके संबंध में किसी अलंकार शास्त्र का कोई आदेश नहीं है कि दूत काव्यों के लिये उक्त छंद का ही आश्रय लिया जाय किन्तु यह परम्परा बड़ी ही सबल सिद्ध हुई है। कालिदास तो मन्दाक्रान्ता छंद में सिद्धहस्त कवि के रूप में सर्वमान्य हैं। तभी तो क्षेमेन्द्र ने अपने सूक्ततिलक में भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए लिखा है कि :—

सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता प्रवल्गति।
सदश्वदमकस्येव कांबोजतरुणांगना।

(वि० ३ श्लो० ३४)

जो भी हो विरही पुरुष की सिसकियों के साथ मन्दाक्रन्ता का मेल भी बहुत सुन्दर है। सत्रह अक्षर के इस छंद में चौथे, छठवें, एवं सातवें अक्षर में यति होती है जो रुधे हुये गले वाले विकल विरही के लिये बीच-बीच में आँसू टपकाने तथा श्वास लेने के लिये बहुत ही उपयुक्त है। इसके अतिरिक्त विप्रलंभ श्रृंगार में एक करुणामय कोमल भाव की अभिव्यक्ति भी अनुकूल लय होने के कारण सहज ही में आँसुओं के साथ ही हो उठती है। कवि का यह छन्द संबंधी चुनाव बहुत ही मनोवैज्ञानिक एवं रस तथा विषय के सर्वथा अनुकूल है।

रामगिरि

दो शब्द रामगिरि आश्रम के सम्बन्ध में कह देना भी अनुपयुक्त न होगा। रामगिरि के सम्बन्ध में विद्वानोंके मतमतान्तर के बीच इदमित्थं कह देना सरल नहीं है। मेघदूत के प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने इस श्लोक में 'यक्षश्चक्रे जनकतनया स्नानपुण्योदकेषु, स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु' में रामगिरि का अर्थ चित्रकूट किया है किन्तु स्थान की स्थिति का कोई निर्देश नहीं किया। डा० परांजपे ने सुरगुजा जिले के रामगढ़ को ही रामगिरि आश्रम माना है और उसे ही चित्रकूट भी माना है। वर्तमान सतना जिले का चित्रकूट भी उनके विचार से रामायण वर्णित चित्रकूट नहीं है।

उनका कथन है कि :—

दशक्रोश इतस्तात गिरिर्यस्मिन् निवत्स्यति।
चित्रकूट इति ख्यातो गन्धमादनसन्निभः॥

इस भरद्वाज की उक्ति में 'शतक्रोश' यह पाठ रहा होगा। इस प्रकार डा० परांजपे ने सरगुजा के रामगढ़ को ही रामगिरि स्वीकार किया है।

डा० मिरासी ने प्रभावतीगुप्ता के ताम्रपट में लिखित 'रामगिरि-स्वामिनः पादमूलात्' इस वाक्य को लेकर नागपुर के निकटवर्ती रामटेक स्थान को रामगिरि स्वीकार किया है। इस मत के समर्थन में विद्वान् विवेचक ने पुष्ट बातें लिखी हैं जिनमें विभिन्न चिह्नों, मिट्टी की बनावट, पर्वत की ऊँचाई, वृक्षों एवं पशुपक्षियों की स्थिति, शिखर की वनावट आदि

पर बड़े विस्तार से विचार किया है। साथ ही अपने मत के विपक्षी डा० परांजपे की मान्यताओं का बड़े ही दृढ़ शब्दों में खंडन किया है। समर्थित स्थान रामटेक को उन्होंने चौथी शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक पुण्य-स्थल के रूप में सुविख्यात बताया है। इसके अतिरिक्त रामगिरि से विदिशा तक के मार्ग को भौगोलिक स्थिति के अनुकूल सिद्ध करने का प्रयास किया है।

किन्तु प्रश्न यह है कि ईसापूर्व प्रथम शताब्दी में कालिदास की स्थिति मानने वाले विद्वानों के मत में उक्त मान्यता का क्या मूल्यांकन होगा। साथ ही '**बन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरंकितं मेखलासु**' इस श्लोक का राम पादुकाओं को पूजा करने अर्थ में पर्यवसित करना कहाँतक उपयुक्त होगा। रामगिरि का चित्रकूट अर्थ है इसमें भी कोई युक्ति दृढ़तर नहीं है। रही बात समर्थन की तो वह बुद्धि का विलास है। इसप्रकार सुरगुजा के रामगढ़ अथवा नागपुर के रामटेक को रामगिरि मानने में कोई एक दूसरे के विपक्ष को खण्डन करने में सबल नहीं कहे जा सकते। किन्तु जहाँतक उस स्थान की स्थिति रमणीयता तथा कालिदास के वर्णनों का संबंध है, रेवा के सामीप्य का संबध है, सुरगुजा का रामगढ़ ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। यह एक विचारणीय विषय है कि रामायण वर्णित चित्रकूट तथा रामगिरि को एक दूसरे से पर्याय के रूप में संबंधित किया जाना भी युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। साथ ही यह भी संभव है कि इस कल्पनामय दूतकाव्य के रचयिता महाकवि कालिदास का कोई कल्पनामय रामगिरि आश्रम ही रहा है। इसप्रकार यह विषय अभी तक मेरी दृष्टि में प्रश्नवाचक का चिन्ह बना हुआ है जो अनुसंधान की अपेक्षा कर रहा है।

धन्यवादज्ञापन

इस पांडुलिपि की ओर सर्वप्रथम मेरा ध्यान डा० भगवानदास सफड़िया ने आकर्षित किया था। उन्हीं के सहयोग से योजना बनी कि यह पुस्तक संस्कृत विश्व-परिषद् की सतना शाखा की ओर से प्रकाशित करवाई जाय। पांडुलिपि की प्रतिलिपि करने में मुझे रामवन के संस्थापक श्री शारदाप्रसाद (बाबूजी) एवं रामवन के दूसरे कर्मचारियों ने बहुत सहयोग दिया है। पंडित रंगनाथ शास्त्री के सहकार्य के बिना तो इस पुस्तक का यह रूप असम्भव ही था। अस्तु मैं इन सब का आभारी हूँ। संस्कृत विश्व-परिषद् की संगठन-समिति के सदस्यों का भी मैं कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मुझे इस कार्य के योगदान में सम्मान दिया है। सेठ रामप्रताप अग्रवाल बड़े ही समाज सेवी हैं और उनके ३००) रुपये के शुभ दान से ही इस पुस्तक का प्रकाशन संभव हो सका है। अस्तु इस क्षेत्र के संस्कृत अनुरागियों को ओर से सेठ रामप्रतापजी को धन्यवाद देना मैं अपना कर्तव्य मानता हूँ।

देवोत्थापिनो एकादशी
संवत् २०२३

विदुषां वशंवदः
रामेश्वरप्रसाद मिश्रः
सम्पादकः

श्लोकानुक्रमणिका

२३. उत्पश्यामि द्रुतमपि—
२४. पाण्डुच्छायोपवनवृतयः—
२५. तेषां दिक्षु प्रथितविदिशा—
२६. नीचैराख्यं गिरिमधिवसे—
२७. बिश्रान्तः सन् व्रजवननदी—
२८. वक्रः पन्था यदपि भविता—
२९. वीचिक्षोभस्तनितविहग—
३०. वेणीभूतप्रतनुसलिला—
३१. प्राप्यावन्तीनुदयनकथा—
३२. दीर्घीकुर्वन् पटुमदकलम्—
३३. हारांस्तारांस्तरलगुटिका—
३४. प्रद्योतस्य प्रियदुहितरम्—
३५. जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः—
३६. भर्तुःकण्ठच्छविरिति गणैः—
३७. अप्यन्यस्मिन् जलधर—
३८. पादन्यासैः क्वणितरसना—
३९. पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनम्—
४०. गच्छन्तीनां रमणवसतिम्—
४१. तां कस्यांचिद् भवनवलभौ—
४२. तस्मिन् काले नयनसलिलम्—
४३. गम्भीरायाः पयसि सरितः—
४४. तस्याः किंचित्करधृतमिव—
४५. त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधा—
४६. तत्र स्कन्धं नियतवसतिम्—
४७. ज्योतिर्लेखावलयि गलितम्—
४८. आराध्यैनं शरवणभवम्—

७५. नेत्रानीताः सततगतिना—
७६. अक्षीणान्तर्भवननिधयः—
७७. मन्दाकिन्याः सलिलशिशिरैः—
७८. वासश्चित्रं मधुनयनयोः—
७९. यत्रस्त्रीणां प्रियतमभुजा—
८०. मत्वादेवं धनपतिसखम्—
८१. तत्रागारं धनपतिगृहादुत्तरेण—
८२. वापीचास्मिन् मरकतशिला—
८३. तस्यास्तीरे रचितशिखरः—
८४. रक्ताशोकश्चलकिशलयः—
८५. तन्मद्धेच स्फटिकफलका—
८६. एभिः साधोः मनसि निहितैः—
८७. गत्वा सद्यः कलभतनुताम्—
८८. तन्वी श्यामा शिखरिवदना—
८९. तां जानीथाः परिमितकथाम्—
९०. नूनं तस्याः प्रवलरुदितोच्छून—
९१. आलोके ने निपततिपुरा—
९२. उत्सङ्गे वा मलिनवसने—
९३. शेषान् मासान्गमनदिवस—
९४. स व्यापारामहनि न तथा—
९५. सा संन्यस्ताभरणमवला—
९६. आधिक्षामा विरहशयने—
९७. निःश्वासेनाधरकिसलय—
९८. आद्ये वद्धाविरहदिवसे—
९९. पादानिन्दोरमृतशिशिरात्—
१००. जाने सख्यास्तवमयिमनः—

शुभम्

श्री शः पातु

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः
शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येनभर्तुः ।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु,
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥१॥

अथ श्री मल्लिनाथसुतविरचितापञ्जरिका टीका :—

श्री गणेशायनमः ॥ सरस्वत्यैनमः ॥ श्री गुरुभ्योनमः ॥
श्री सूर्यमूर्तिर्जयति ॥

नमोस्तु विघ्ननाशाय भक्तविघ्नविनाशिने ।
गोरीगौरीशदम्पत्योरात्मजानन्दहेतवे ॥१॥
यत्कृपादृष्टिमात्रेणजड़ः सर्वज्ञतां व्रजेत् ।
स्फुरतात्सा घनश्यामा शम्भुजाया मनोरमा ॥२॥
मेघदूताख्यकाव्यस्य पदवाक्यविवेचनम् ।
क्रियते शारदां नत्वा वालव्युत्पत्तिकारणम् ॥३॥

आशींनमस्क्रिया वस्तुनिर्देशोवा काव्यमुखमित्यभिप्रेत्य वस्तुनिर्देश-लक्षणं मङ्गलाचरणं प्रथमतो वस्तुनिर्देशं दर्शयाति । कश्चित्कान्तेति— कश्चिद् यक्षः देवयोनिः । रामगिर्याश्रमेषु रामाश्रितपर्वतेषु वसतिं चक्रे वासो विदधे । ननु आश्रमेष्विति वहुवचनं विरहिणां व्याकुलत्वेन नैकत्रावस्थानात् । स्वरितञितः कर्त्रभिप्रायेक्रियाफल इत्यात्मने पदम् । किं विधेषुआश्रमेषु जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु जनकस्य वैदेहस्य तनया दुहिता जानकी तस्याः स्नानानि आप्लावनैः पुण्यानि पवित्राणि उदकानि सलिलानि येषां ते तेषु । उदकं पाथ इत्यमरः । पुनः किं

विधेषु स्निग्धच्छायातरुषु स्निग्धा अरुक्षा छाया तरवो निश्चलछायातरवो निश्चलच्छायाभूरुहा येषु ते तरवो परापरदिग्भागं विभाज्यापि येषां छायापरिवृत्तिर्नास्ति तेषु छायातरवः तेषु। विटपी पादपस्तरुरित्यमरः। किं विधो यक्षः स्वाधिकारात्प्रमत्तः स्वव्यापारेऽनवधानः। पुनः किं विधः भर्तुः स्वामिनः कुवेरस्य, शापेन अभिषंगेन। अस्तंगमितमहिमा महतो भावो महिमा लोहितादेर्डिदिमन्, अस्तं अदर्शनं गमितः प्रापितो महिमा यस्येतिसः। किं विधेन शापेन वर्षभोग्येन वर्षेण संवत्सरेण भोग्यः तेन। पुनः किं कान्ताविरहगुरुणा कान्तायाः कामिन्याः विरहो वियोगः तेन गुरुर्महान् तेन। प्रमदाकामिनीकान्ताललना वनितानितम्बिनीत्यमरः ॥१॥

अर्थ—अपने कर्तव्य के प्रति विमुख प्रियावियोगसे दुस्तर वर्षावधिभोगेजानेवाले स्वामी के शापसे विलुप्तसामर्थ्यवाले किसी यक्षने जानकी के स्नानसे पावनशलिल सम्पन्न घनीछायासे युक्त वृक्षवाले रामगिरिके आश्रमों में निवास किया ॥१॥

तस्मिन्नद्रौ कतिचिदवलाविप्रयुक्तः स कामी,
नीत्वा मासान् कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः।
आषाढ़स्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं,
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ॥ २ ॥

तस्मिन्निति—प्रियासंदेशप्रापकाय निगमार्थमाह—सयक्षः तस्मिन्नद्रौ पूर्वोक्तशैले। मेघं घनं। ददर्श अद्राक्षीत्। अद्रिहेत्रगिरिग्रावाचलशैलशिलोच्चयः इत्यमरः। कदा ददर्श आषाढ़स्य शुचेः। प्रथमदिवसे शुक्लप्रतिपदिके, नवैवं व्याचक्षते प्रथममित्यव्ययम् प्रसिद्धार्थे विष्णोर्दिवसे वासरे एकादश्याम्। कि विधः कामी कामोऽभिलाषोस्यास्तीति कामी। अतइनूठनौ, इतीन्। किं कृत्वा ददर्श तस्मिन्नद्रौ कतिचिन्मासान्नीत्वा अतिवाह्य। समानकर्तृके क्त्वा। पुनः किं विधः अवलावि-

प्रयुक्तः अवलया योषया विप्रयुक्तः वियुक्तः। स्त्रीयोषिदवलायोषा इत्यमरः। पुनः किंविधः कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः कनकस्य हेम्नो वलयं कटकं तस्य भ्रंशः स्रंसनं तेन रिक्तौ शून्यौ प्रकोष्ठौ यस्य सः। किं विधं मेघं आश्लिष्टसानुं आश्लिष्टाः परिसिक्ताः सानवः येन तम्। परिरम्भः परिस्संगः संश्लेष उपगूहनमित्यमरः। पुनः किं विधं वप्रक्रीड़ापरिणत-गजप्रेक्षणीयं वप्रे प्राकारे क्रीड़ा खेलनं तत्र परिपातो परितो नतो नम्रश्चासौ गजः कुंजरः। प्रेक्षणीयोऽवलोकनीयः। तव्यतव्यानीयरः इत्यनीयर्।

अर्थ—उस पर्वतमे, स्वर्णकंकण से शून्य हाथवाले कामातुर यक्ष ने कुछ समय विताकर आषाढ़ के प्रथम दिन, पर्वत के शिखर में अव-लम्बित मेघ को, वप्रक्रीड़ा में लगे हुये हाथी के समान दर्शनीय, देखा।

तस्यस्थित्वा कथमपि पुरः केतकाधानहेतो,
रन्तर्वाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ।
मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्तिचेतः,
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ॥३॥

मेघदर्शने सति किं जातमित्याह तस्येति—तस्य राजराजस्य शिव-सन्निहितत्वात् तच्छिरास्थितेन राज्ञा चन्द्रेण राजते इति राजराजस्तस्य राजराजस्य। अनुचरः अनुजीवी। चिरं चिराय दध्यौ, परोक्षे कर्तरि प्रथमा। कि विधः अन्तर्वाष्पः अंतः मध्ये वाष्पः अश्रुर्यस्यसः वाष्प-निरुद्धकण्ठ इत्यर्थः। किं कृत्वा तस्य मेघस्य पुरः अग्रे कथमपि महता स्थित्वा। किंविधस्यतस्य-केतकाधानहेतोः केतकीनाम् पुष्पं केतकं तस्य आधानं प्रादुर्भावः तस्य हेतुः निमित्तं तस्य। कथं तस्येयमवस्था इत्याह—सुखिनोऽपि सकलत्रस्यापि चेतः चित्तमन्यथावृत्तिर्भवति, अन्यथा-वृत्तिर्वर्तनं यस्येतितत्। कस्मिन् सति—मेघालोके घनदर्शनेसति। दूर-संस्थे असन्निकृष्टे तस्मिन् कलत्राख्येजने किम् पुनः। किं विधेः कण्ठाश्ले-ष प्रणयिनि कंठे गले आश्लेषः आलिङ्गनं तत्र प्रणयो तस्य तस्मिन् ॥३॥

अर्थ—कुबेर का अनुचर वह यक्ष आसुओं को भीतर ही रोक कर केतकी पुष्प के प्रादुर्भाव के हेतुभूत उस मेघ के समक्ष, जिस किसी प्रकार स्थित हो कर बड़ी देर तक कुछ सोचता रहा। (क्यों न सोचे) मेघों के देखने पर प्रिया के समीपस्थ भी प्रेमी का चित्त चंचल हो उठता है, तब गले से लगकर आलिङ्गन के लिये उत्सुक प्रवासी पुरुष क्यों न उत्सुक हो ॥३॥

प्रत्यासन्ने नभसिदयिताजीवितालम्बनार्थं,
जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन्वृत्तिम्।
स प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः कल्पितार्घाय तस्मै,
तुष्टः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार ॥४॥

ततः किं कृतवानित्याह—प्रत्यासन्न इति—सयक्षः तस्मै मेघाय स्वागतं सुखागमनप्रश्नं सुष्ठु आगतं व्याजहार जगाद। किं विधं प्रीतिप्रमुखवचनं प्रीतिप्रमुखं प्रीतिपूर्वकं वचनं वाक्यं यत्र तत्। किं विधः तुष्टः प्रियतमा संदेशसम्पादने लब्धोपायत्वात् हृष्टः। किं विधाय कल्पितार्घाय कल्पितो विरचितोर्धः पूजाविधिर्यस्मै सः तस्मै। मूल्ये, पूजाविधावर्घं इत्यमरः। कैः कुटजकुसुमैः कुटजः तरुविशेषः तस्य कुसुःमै प्रसूनैः। स्त्रियः सुमनसः पुष्पं कुसुमम्-इत्यमरः। किं विधैः प्रत्यग्रैः अभिनवैः। प्रत्यग्रोऽभिनवो नव्यो नवीनो नूतनो नवः इत्यमरः। ननु स्वागत प्रश्ने किंकारणं, किं कुर्वन्—जीमूतेन जलमुचा स्वकुशलमयीं स्वकुशल प्रधानं यस्यां सा तां प्राधान्येन प्रवृत्तिं वृत्तान्तं हारयिष्यन् प्रापयिष्यन्। हेतुमतिचेति णिच्, वृद्धिः, लृटःसद्वेति सत्संज्ञा शतृप्रत्ययः। किमर्थम् दयिताजीवितालम्बनार्थं दयितायाः प्रियायाः जीवितं तस्याल-म्बनं प्राणधारणं तदेवार्थः प्रयोजनं यस्य तत्। क्रियाव्ययविशेषणानां क्लीवतैकवचनतावक्तव्येति। ननु दयिताजीवितशंशये कारणं कस्मिन् सति-नभसि श्रावणमासे प्रत्यासन्ने सन्निकृष्टे सति समीपे सति। निकटा-

सन्नसन्निकृष्टसमीप इत्यमरः ॥ अस्मिन् मेघसमये यद्यहं वृत्तान्तं नहा-रयिष्यं तदा सा प्राणान् त्यक्ष्यत इति भाव ॥४॥

अर्थ—श्रावण मास के समीप आजाने के कारण, प्रियतमा के जीवनालम्बन के लिये, मेघ के द्वारा अपनी कुशलता का समाचार प्रेषित करने को इच्छुक उस यक्ष ने समीपस्थ नवीन कुटज पुष्पों द्वारा अर्घ प्रदान कर मेघ का प्रिय वचनों से स्वागत किया ।

धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः
सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः ।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन्गुह्यकस्तं ययाचे,
कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥५॥

धूमज्योतिरिति । यथोदितस्य प्रार्थनाकथनार्थमाह । गुह्यकः यक्षः । तं पूर्वोक्तदिष्टं मेघं ययाचे अयाचिष्ट । किं कुर्वन् औत्सुक्यात् उत्सुकत्वात् । अपरिगणयन् अविचारयन् । किम् सन्देशार्थाः वाग् वाचकार्थाः क्व, मेघो धूमज्योतिः क्वः । किम् विधाः प्राणिभिः चेतनैः प्रापणीयाः प्रापयितव्यः । किं विधैः पटुकरणैः पटूनिदृढानि करणानि इन्द्रियाणि येषां ते तैः । करणं साधकतमं क्षेत्रगात्रेन्द्रियेष्वपि । किं विधः धूमज्योतिः सलिलमरुततां सन्निपातः सन्निकर्षः समाहारे द्वन्दः । तदेवं कविः उत्सुकत्वं दर्शयति हि इति निश्चितं कामार्ताः कामपीड़िताः चेतनाचेतनेषु प्राण्यप्राणिषु । प्रकृतिकृपणाः स्वभावक्षुद्राः । कदर्थे कृपणं क्षुद्र इत्यमरः ॥५॥

अर्थ—धूम ज्योति जल वायु का सम्मिश्रण मात्र कहाँ तो मेघ और सचेतन प्राणियों के द्वारा पहुँचाये आने के योग्य कहाँ तो सन्देश, इस बात को विरह पीड़ा के कारण न सोचते हुये यक्ष ने मेघ से (सन्देश वहन के लिये) याचना किया । ठीक ही है कामार्त व्यक्ति चेतन एवं अचेतन के विचार में स्वभावतः शून्य हो जाते हैं ॥५॥

जातं वंशे भुवननविदिते पुष्करावर्तकानां,
जानामित्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मधोनः।
तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद्दूरबन्धुर्गतोऽहम्,
याञ्चामोधा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥६॥

किं याचे इत्याह—जातं वंश इति। याच्यस्य बहुवचनैः प्ररोचनां विचारयन्नाह–त्वां, भवन्तं अहं जानापि अवैमि। किं विधं पुष्करावर्तकानां वंशे पुष्करावर्तकाभिधानां मेघानां मेघवर्याणां पुष्करं पानीयं आवर्तयन्तीति पृथिव्यां भ्रामयन्तीति तेषां वंशे कुले जातं उत्पन्नं, वंशोऽन्वयोपिसन्तान इत्यमरः। किं विधे भुवनविदिते भुवनेषु जगत्सु विदिते प्रसिद्धे। विष्टपं भुवनं जगदित्यमरः। पुनः मघोनः इन्द्रस्य प्रकृतिपरुषं प्रधानपुरुषम्। पुनः किम् कामरूपं इच्छारूपं। महाकुलत्वेन, इन्द्रधुरधारकत्वेन, इच्छारूपत्वेन, त्रिभुवन प्रसिद्धत्वेन च अतः कारणचतुष्टयात् त्वयि भवति। अर्थित्वं याचकत्वं गतः प्राप्तः। इच्छामनोभवे कामे इत्यमरः। किं विधोऽहम्-विधिवशात् दैवशात्। दूरबन्धुः विप्रकृष्टसुहृदः सुदूरभार्यः। युक्तिं निदर्शयति-अधिगुणे अधिकगुणे, याञ्चा अर्थिता, मोवा निष्फला वरं वरिष्टम्, अधमे न्यूने कुत्सिते लब्धकामा प्राप्तकामा न निरर्थकम् ॥६॥

अर्थ—लोक प्रसिद्ध पुष्करावर्तकों के वंशमें समुत्पन्न एवं इन्द्रके प्रधान पुरुष इच्छानुसार रूप धारण करने वाले आपको मैं जानता हूँ। अतः उक्त महत्त्व के कारण, भाग्यवश अपने आत्मीय से दूर मैं आपके समक्ष याचक बना हूँ। क्योंकि गुणवान् व्यक्ति के प्रति की गई याञ्चा निष्फल होने पर भी श्रेष्ठ है किन्तु अधम व्यक्ति के प्रति सफल होकर भी श्रेष्ठ नहीं है। ६॥

सन्तप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद ! प्रियायाः
सन्देशं मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य ।
गन्तव्या ते वसतिरलकानाम यक्षेश्वराणां
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या ॥७॥

प्रार्थनीयस्य परोपकारगुणानन्तरं वर्णयन्नाह । चित्ताभिप्रायं कथयति सन्तप्तानामिति । हे पयोद ! जलद । यतः त्वं संतप्तानां शरणं रक्षिता असि । शरणं गृहरक्षित्रोरित्यमरः । तत्तस्मात् हेतो मे मम । सन्देशमुदन्तम् । प्रियायः कान्तायाः । हर नय ।' द्विकर्मकत्वात् हरतेः प्रियामिति प्राप्तकर्मण्यपीति केचिदिति षष्ठी । त्वमेव कथं न गच्छेः किं सन्देशेनेत्याह—धनपति क्रोधविश्लेषितस्य वैश्रवणक्रोधवियोजितस्य विघटितस्य । ण्यन्ताद् क्तप्रत्ययः । क्व अलकानाम । ते तव, गन्तव्या गम्या । कृत्यानां कर्तरिचेति षष्ठी । अनेन लक्षणेनालका ज्ञेयेत्याह—किं विधा वाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या वाह्ये यदुद्यानं तत्रस्थितश्चासौ हरः त्र्यम्बकः तस्य शिरः उत्तमाङ्गं तत्र चन्द्रिका कौमुदी तया धौतानि धवलीकृतानि हर्म्याणि सौधानि यस्याः । सा उद्यानं राजसाधारणं वनम् । चन्द्रिका कौमुदी ज्योत्स्ना इत्यमरः । उत्तमाङ्गं शिरः त्राणं मूर्धानं मस्तकोऽस्त्रियाम् । हर्म्याणि धनिनां वासः इत्यमरः ।७॥

अर्थ—हे जलद तुम सन्ताप से पीड़ित प्राणियों के रक्षक हो, अतः कुबेर के शाप से वियुक्त मेरा सन्देश प्रियतमा के समीप पहुँचा दो । तुम्हें उपवनमें स्थित भगवान शिव के शिरस्थ चन्द्रिका से प्रच्छालित भवनों वाली, यक्षेश्वरों की अलका नामक नगरी जाना होगा ॥७॥

त्वामारूढं पवनपदवीमुद्गृहीतालकान्ताः,
प्रेक्षिष्यन्ते पथिकवनिताः प्रत्ययादाश्वसन्त्यः ।
कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायां,
नस्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः ॥८॥

इदानीं पथि कान्तानां दर्शनव्याजेन मेघं प्रलोभयन्नाह आरूढमिति—

हे जलद पथिकवनिताः पान्थमहिष्यस्त्वां प्रेक्षिष्यन्ते विलोकयिष्यन्ति। किं विधं पवनपदवीं प्रभञ्जनपद्धतिमारूढं खमार्गमासीनम्। ननु ताः लम्बालकाः विद्यन्ते कथं द्रक्ष्यन्ति। किं विधाः उद्गृहीतालकान्ताः उर्ध्वीकृताः अलकान्ताः याभिस्ताः। अलकाचूर्णकुन्तलाः इत्यमरः। पुनः किं विधाः प्रत्ययात् विश्वासात् आश्वसन्त्यः स्वच्छमनसोभवन्त्यः। श्वस प्राणने आश्वसन्तीत्याश्वसन्त्यः शतृ प्रत्ययः कर्तरि, उगितश्चेतिङीप्, श्यप्श्यनोर्नित्यमितिनुम्। प्रावृट् समये पतयो आगच्छन्तीति विश्वासः तं दर्शयन्नाह—त्वयि भवति घने सन्नद्धे संवद्धे सति विरहविधुरां विरहेण वियोगेन विधुरां प्रविश्लेषां जायां भार्याम्। कः उपेक्षेत त्यजेत् नकोपी त्यर्थः।त्वं कथमुपेक्षस इत्याह--अपि समुच्चये। सः अन्योऽपि जनो नस्यत् न भवेत्! स कः यः पराधीनवृत्तिः पराधीनस्य परतन्त्रस्येव वृत्तिर्वर्तनं यस्य। अथवा पराधीना वृत्तिर्यस्य सः।गोऽस्त्रियो रुपसर्जनस्येति ह्रस्वः। क इव अहमिव यथाहं तथान्यो जनो न स्यादित्यर्थः। परतन्त्रः पराधीनः परवानित्यमरः॥

अर्थ—वायुमार्ग मे वर्तमान तुम्हें पथिकों की वनितायें आश्वासित-होती हुई अपने खुले हुये वालों को ऊपर उठाकर देखेंगी। क्योकि तुम्हारे आकाशमे सन्नद्ध हो जानेपर जो मेरे समान पराधीन जीविका वाला नहीं है ऐसा कौन होगा जो अपनी प्रियतमा की उपेक्षा करे ॥८॥

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वाम्।
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगर्वः॥
गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमावद्धमालाः।
सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः॥९॥

अन्यच्च प्रस्थानोपयोगि शकुनंदर्शयन् मेघस्य फलं दर्शयति-मन्दं-मन्दमिति—

च समुच्चये। पवनः गन्धवहो यथा त्वां भवन्तं मन्दं मन्दं शनैः नुदति प्रेरयति। किं विधिः-अनुकूलः सुखहेतुः। तथा, अयञ्चातकश्च। ते तव। वामः सव्यः मधुरं प्रियम्। नदति अव्यक्तशब्दं करोति। स्वादुप्रियौ तु मधुरावित्यमरः। किं विधः सगर्वः सोत्साहः। तथा नूनं निश्चितं बलाकाः सेविष्यन्ते सभाजयिष्यन्ति। कस्मात्, गर्भाधानक्षणपरिचयात्-गर्भस्याधानं, आरोपणं तत्र क्षणं किञ्चित्कालं परिचयः संस्तवः, तस्मात्। मेघवायुसंयोगे तेषां गर्भधारणं लोकप्रसिद्धम्। संस्तवः परिचय इत्यमरः। किंविधाः खे सुरवर्त्मनि आवद्धमालाः वद्धपंक्तयः। गगनं सुरवर्त्म खमित्यमरः। किंविधं भवन्तं नयनसुभगं नेत्ररुचिरम्। लोचनं चक्षुरीक्षणं नेत्रमक्षीत्यमरः। वलाकस्त्रियो भवन्तं पुरुषं खे आकाशदेशे सेवन्ते। लोचनाभिरामं ताः वद्धमाला इतिभावः ॥९॥

अर्थ—हे मेघ यह मन्द मन्द चलनेवाला अनुकूल वायु आपको प्रेरित कर रहा है, तथा यह चातक पक्षी आपके वामभाग में मधुर शब्द कर रहा है। और आगे भी वलाकों की अङ्गनायें गर्भाधान के उत्सवानन्दक्षण से परिचित होकर पंक्तिवद्धरूपमें नेत्रों को प्रियलगनेवाले आपकी आकाश में निश्चित ही सेवा करेंगी ॥९॥

तां चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नी,
सव्यापन्नामविहतगतिर्द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम् ॥
आशावन्धः कुसुमसदृशं प्रायसो ह्यङ्गनानाम्।
सद्यः पातिप्रणयिहृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ॥१०॥

स्वप्रयोजनं दर्शयति-तांचेति त्वं तां भार्यामवश्यं निश्चितं द्रक्ष्यसि प्रेक्षिष्यसे। ननु परोक्षे परस्त्रीदर्शनमयुक्तमित्याशंक्याह भ्रातृजायाम् भ्रातृजाया मातृतुल्येति स्मृतिः। किंविधाम्-अव्यापन्नाम् जीवन्तीम्। पुनः किंविधाम् दिवसगणनातत्पराम् गतशेषदिवसमानतत्पराम्। हेतुगर्भविशेषणमाहएकपत्नीम्, एकः पति यस्याः सा तां, नित्यं सपत्न्यादिषु, इतिनुक्

नान्तत्वात् ङीप् । किंविधः, अविहतगतिः अविहता अविनष्टा गतिर्गमनं यस्यसः । कथं दर्शनेनिश्चय इत्याह । हि निश्चितमाशाबन्धः प्रायशो बाहुल्येन अङ्गनानाम् भीरूणाम् हृदयं चितं रुणद्धि प्रतिवध्नयति, इति ॥१०॥

अर्थ—हे जलद ! मेरे विरह के शेष दिवसों की गणना में संलग्न जीवित पतिव्रता अपनी भाभी को अव्याहत गति वाले तुम अवश्य देखोगे क्योंकि प्रायः शीघ्रही पतनशील पुष्प के समान कोमल अङ्गनाओं के हृदय को आशाबन्धन वियोगावस्था में रोके रखता है, अवलम्बन होता है ॥१०॥

कर्तु यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्ध्रामवन्ध्यां,
तच्छ्रुत्वा ते श्रवणसुभगं गर्जितं मानसोत्काः ।
आकैलाशाद्बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः,
सम्पत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः ॥११॥

सहायसम्पत्तिश्चास्तीत्याह—हे मेघ आकैलाशात् कैलाशगिरिपर्यन्तम् राजहंसाः विमलविहङ्गमाः । नभसि आकाशे । भवन्तस्तव सहायाः सम्पत्स्यन्ते सार्धं भविष्यन्ति । किं विधाः मानसोत्काः मानसं सरः उत्का गन्तुमुत्कंठिताः । पुनः किं विधाः विसानां मृणालानां किसलयानि पल्लवास्तेषां छेदैः खण्डैः पथियोग्यं पाथेयं मार्गशम्बलं येषां ते ! किं कृत्वा श्रवणसुभगं श्रोत्रसुखं ते तब । गर्जितं गर्जनम् स्तनितम् । श्रुत्वा आकर्ण्य । किं विधम्-महीं भूमिमुद्गतानि शिलीन्ध्राणि एव कन्दलीयान्येव छत्राणि यत्र सा तादृशीं कर्तु प्रभवति । त्वयि शब्दायमाने मह्यां छत्राकाराणि शिलीन्ध्राणि भवन्तीति भावः ॥११॥

अर्थ—हे मेघ धरती को अवन्ध्य बनाने के सूचक शिलीन्ध्र को उगाने में समर्थ तुम्हारे श्रवण सुखद गर्जन को सुनकर, मृणालतन्तुओं का मुख में पाथेय लिये हुये, मानसरोवर के लिये उत्सुक राजहंस कैलाश पर्वत तक आकाश में तुम्हारे मार्ग सहायक होंगे ॥११॥

आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्य शैलम् ।
बंद्यैः पुसां रघुपतिपदैरङ्कितं-मेखलासु ॥
काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य ।
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरजंमुञ्चतो बाष्पमुष्णम् ॥१२॥

प्रियमित्रदर्शनमनुमतिग्रहणं च दर्शयति, आपृच्छस्वेति हे मेघ रघुपतेः श्री रामचन्द्रस्य । पदैश्चरणन्यासैर्मेखलासु मध्यप्रदेशेषु । अङ्कितं चिह्नितं तुङ्गमुन्नतममुंशैलं रामगिरिमालिङ्ग्याश्लिष्यापृच्छस्व । किंविधः पुंसां प्राणिनां बंद्यैः नमस्कर्तुं योग्यैः । कर्तरिषष्ठी । किंविधं समागमसमये भवतस्तव संयोगं संबंधम्, एत्य प्राप्य यस्य पर्वतस्य स्नेहव्यक्तिः प्रेमप्रादुर्भावो भवति । किं विधस्य-चिरं विरहाद्वियोगाज्जातमुष्णमशीतलं बाष्पमूष्माणं मुञ्चतः । भवत इति कर्तरि षष्ठी । प्रियसखमिति राजाहः सखिस्यष्टच् वाष्पमूष्माश्रुकशिपुरित्यमरः । मेखलामध्यभागोऽद्रेरित्यभिधानाचिन्तामणिः ॥१२॥

अर्थ—हे मेघ श्री राम के चरण चिह्नों से मध्य भाग में अंकित, मानवों से वन्द्यनीय ऊँचे इस प्रिय सखा रामगिरि को आलिङ्गन कर अपने गमन की अनुमति प्राप्त करो जो समय पर आपके संयोग को प्राप्तकर विरह वेदना तप्त अश्रुओं को गिराते हुये तुम्हारे प्रति अपने स्नेह को व्यक्त करता है ॥१२॥

मार्गं तावच्छृणु कथयतस्त्वत्प्रयाणानुरूपम् ।
संदेशं मे तदनु जलद श्रोष्यसि श्रोत्रपेयम् ॥
खिन्नः खिन्नः शिखरिषु पदं न्यस्य गन्तासि यत्र ।
क्षीणः क्षीणः परिलघुपयः स्रोतसां चोपभुज्य ॥१३॥

सम्प्रति तस्यमार्गं संदेशं च कथयति, मार्गमिति जलं ददाति जलद ? तावत् प्रथमतः त्वं मार्गश्शृणु आकर्णय । किंविधं त्वत्प्रयाणानुरूपं तवगमनयोग्यम् ! तदनु मार्गाकर्णनपश्चात् कथयतो मे संदेशं वाचिकं

श्रोष्यसि । किंविधं श्रोत्रपेयम्, श्रोत्राभ्यां कर्णाभ्यां पेयं पातुं योग्यम् । कस्य संदेशं शृणोमीत्याह-यत्र गन्तासि गमिष्यसि । किं कृत्वा खिन्नः खिन्नः मार्गायासक्लान्तः सन् शिखरिषु पर्वतेषु पदंन्यस्य । पुनः किं कृत्वा जलदानात् क्षीणः सन् स्रोतसां सरित्प्रवराणां पयश्चोपभुज्य ॥१३॥

अर्थ—श्रमित होने पर पर्वतों में विश्राम करते हुये तथा बरसजाने से लघु हो जाने पर नदियों के जल को पीकर जहाँ तुम जाओगे । हे जलद ! सर्व प्रथम अपने गमनानुरूप उस मार्ग को सुनो, तदन्तर मेरे कर्ण सुखद सन्देश को सुनोगे ॥१३॥

अद्रेः शृङ्गं हरति पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभिः
दृष्टोत्साहश्चकितचकितंमुग्धसिद्धाङ्गनाभिः ॥
स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खं ।
दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान् ॥१४॥

पथि मार्गं वर्णयन्नाह—अद्रेरिति—हेमेघ अस्मात् स्थानात्, उदङ्-मुखः उत्तराभिमुखः सन् खमाकाशमुत्पत । किंविधात् सरसनिचुलात् सरसाः पल्लवपुष्पफलसहिताः निचुलाः हिज्जलाख्यास्तरवो यत्र तत् तस्मात् । किंकुर्वन्-दिङ्नागानां दिग्गजानां स्थूलहस्तावलेपान् पीवर-शुण्डादण्डसम्पर्कान् पथि परिहरन् त्यजन् । किंविधःअमुनाप्रकारेण मुग्ध-सिद्धाङ्गनाभिः मुग्धाः सुन्दर्यो याः सिद्धाङ्गनाः ताभिश्चकितचकितं साश्चर्यं यथास्यात्तथा दृष्टोत्साहः दृष्टः आलोकितः उत्साहः उच्छायः आधिक्यं वा यस्य त्वम् । किं विधाभिः उन्मुखीभिः ऊर्ध्वाननाभिः कथंस्विदिति वितर्के ! पवनो वायुरद्रेः पर्वतस्य शृङ्गं शिखरम् हरति किम् । निचुलो हिज्जलोऽम्बुजः इत्ययरः । निचुलस्तु निचोलेस्याहिज्जलाख्यमहीरुहे इति-मेदनी । किंस्वित् प्रश्ने वितर्के चेत्यमरः । हस्तः करे करिकरे सप्रकोष्ठ-करेऽपिचेति मेदिनी । मुग्धः सुन्दरमूढयोरिति विश्वः ॥१४॥

अर्थ—हे जलद ! क्या वायु पर्वतशिखर को उड़ाये ले जा रहा है; इस आशङ्का से ऊपर की ओर मुख किये हुये सिद्धों की मुग्धरमणियों के द्वारा अत्यन्त चकित होकर देखे गये तुम सरस वेतस वाले इस आश्रम से, आकाश मार्ग में दिग्गजों के मोटे हस्तक्षेपों से बचते हुये उत्तर की ओर मुखकर आकाश में उत्पतित होना ॥१४॥

रत्नच्छाया व्यातिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्तात्,
वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुः खण्डमाखण्डलस्य ।
येनश्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते,
वर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः ॥१५॥

सम्प्रति देवराजधनुः वर्णयन्नाह-रत्नच्छायेति हे मेघ । एतदाखण्डलस्य इन्द्रस्य । धनुः खण्डं कार्मुकशकलम् । पुरस्तादग्ने वल्मीकाग्नात् । प्रभवति उत्पद्यते । किं विधम् प्रेक्ष्यं प्रेक्षितुम् योग्यं दर्शनीयमित्यर्थः । उत्प्रेक्षते-रत्नच्छायाव्यतिकर इव रत्नानां पद्मराग वैदूर्यादिमणीनां छायानां दीप्तीनां 'व्यतिषङ्ग इव । मणीनां नानावर्णत्वादसावुत्प्रेक्षा । एतत् किम्-येन धनुषा कृत्वा ते तव । श्यामं वपुः शरीरम् । अतितरां कान्तिमापत्स्यते दीप्तिं प्राप्स्यति । केन कस्येव-स्फुरितरुचिना देदीप्यमानदीप्तिकेन वर्हेण शिखण्डेन गोपस्य वेष इव वेषो यस्य तस्य विष्णोः वसुदेवसूनोरिव । यथा कृष्णस्य श्यामंवपुः वर्हेण कान्तिं लभते तथेत्यर्थः । श्यामत्वान्मेघस्योपमानं कृष्णः, नानावर्णत्वात् धनुषोवर्हमुपमानम् । रत्नं स्वजाति श्रेष्ठेपि मणावपि नपुंसक इति मेदिनीकारः । छाया सूर्यप्रियाकान्तिरित्यमरः । छायास्यादातपाभावे प्रतिविम्वार्कयोषितोः । पालनोत्कोचयोर्दीप्तिसच्छोभा पंक्तिषु स्त्रियामिति मेदिनीकारः । अथ व्यतिरेकः पुंसि व्यसनव्यतिषङ्गयोरिति विश्वः । शिखाचूणाशिखण्डस्तु पिच्छवर्हे नपुंसक इत्यमरः ॥१५॥

अर्थ—विभिन्न प्रकार की मणियों के परस्पर कान्ति संमिश्रण के

समान दर्शनीय यह इन्द्र धनुष दीमक के स्तूपसे तुम्हारे आगे ही आविर्भूत हो रहा है। जिसके सम्पर्क से तुम्हारा श्यामल शरीर, देदीप्यमान-कान्तिवाले मयूरपंख से सुशोभित गोप वेषधारी विष्णु के समान अत्यधिक कान्ति से सुशोभित हो जायेगा ॥१५॥

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः।
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः।
सद्यः सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं।
किंचित्पश्चाद्व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण ॥१६॥

मेघस्य जीवनदाकयत्वं कृषिफले महत्त्वं च निदर्शयन्नाह त्वय्यायत्तमिति—हे मेघ ! त्वं मालं मालवाख्यमुन्नतस्थानमारुह्य किंचित् पश्चात् क्षणानन्तरमेव लुघुगतिस्तत्र वृष्टिकरणाल्लघु कलेवरत्वेन द्रुतगमनः सन् व्रज गमनं विधेहि। "लघुक्षिप्रमरं द्रुतम्" इत्यमरः। भूयः पुनरपि तत्स्थानादुत्तरेणैवोत्तरमार्गेणैव गच्छ। कीदृशं क्षेत्रं सद्यस्तत्क्षणात् सीरेण हलेन कषणं विदारणं तेन सुरभीणि क्षेत्राणि यस्य तत्। "सुरभिघ्रणितर्पणः" इत्यमरः। त्वं कीदृशः। इति हेतोरतः कारणात् जनपदवधूलोचनैर्जनपदवधूनां पल्लीयोषितां लोचनैः नेत्रैः पीयमानः सादरं वीक्ष्यमाणः। किं विधैः भ्रूविलासे भ्रूविकारे कटाक्षवीक्षणेऽनभिज्ञैरकुशलैः। पुनः किं विधैः प्रीत्या स्नेहेन स्निग्धैः स्नेहयुक्तैः। इति कुतः कृषिफलं कृषेर्हलकर्मणः फलं सस्यमित्यर्थः। त्वय्यायत्तम् त्वदधीनम्। माला पुष्पादिवन्धेस्यान्मालमुन्नतभूतले।

अर्थ—हे मेघ ! कृषिकर्म का फलभूत धन्योत्पादन तुम्हारे ही आधीन है, इसीलिये स्नेह पूर्ण, कटाक्षवीक्षण से अनभिज्ञ कृषकों की रमणियों द्वारा आखों से पान किये जाते से, तत्काल जोतने से सुरभित उन्नत मालक्षेत्र में जल वृष्टि करने के अनन्तर आप शीघ्र ही उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान करें ॥१६॥

त्वामासारप्रशमितवनोपप्लवं साधुमूर्ध्ना
वक्ष्यत्यध्वश्रमपरिगतं सानुमानाम्रकूटः।
न क्षुद्रोपि ऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः ।।१७।।

भोमेघ-कृतोपकारस्यते पथि महत्सन्मानमपि भविष्यती त्याह—आम्रकूटः एतन्नाभकः सानुमान् पर्वतः त्वां मेघं मूर्ध्ना शिरसा वक्ष्यति धारयिष्यति साधुयथास्यात्तथा क्रियाविशेषणमेतत् भक्तभावपूर्णःसन्नित्यर्थः। किंविधं त्वां आसारेण धारासम्पातेन प्रशमितः शान्ति नीतः वनस्य विपिनस्य उपप्लवो दावानल लक्षणो येन त्वया सत्वं तं त्वाम्, "धारासम्पात आसारः" इत्यमरः। विहितविनाशरक्षणरूपमहोपकारेणेतिभावः। पुनः किं विधं अध्वश्रमपरिगतम्, अध्वश्रमेण मार्गगमनपरिश्रमेण परिगतं व्याप्तमित्यर्थः। पूर्वोक्तं समर्थयन्नर्थान्तरन्यासेनाह—संश्रयाय संश्रयणाय मित्रे सुहृदि प्राप्ते सति "अथ मित्रं सखा सुहृद्" इत्यमरः। प्रथमसुकृतापेक्षया पूर्वकृतोपकाराकांक्षया। क्षुद्रोऽपि नीचोऽपि "क्षुद्रो-दरिद्रे कृपणे नृशंसे' इतियादवः। विमुखो पराङ्मुखो नभवति प्रत्युपकरं करोत्येवेत्यर्थः। यस्तथोच्चैर्महान् स किं पुनः स यदि विमुखो न भवति तदाकिमाश्चर्यम् ।।१७।।

अर्थ—हे मेघ धारा प्रवाह वृष्टि से दावानल को शान्त करने वाले, मार्गश्रमसे परिश्रमित तुम्हें आम्रकूट पर्वत श्रद्धापूर्वक अपने सिर से धारण करेगा। क्योंकि आश्रय के लिए मित्र के आने पर क्षुद्र व्यक्ति भी पूर्व किये गये उपकार को ध्यान में रखते हुए विमुख नहीं होता फिर वह तो महान् है ।।१७।।

"पंजरिका टीका का अर्धांश जो उपलब्ध है—"

मित काननोपल्पवं किं विधः सानुमान् सानवः यस्यसः तदस्यास्तीत्यर्थे मतुप्। "धारासम्पात आसारः सीकरो बुक्कणाः स्मृताः" इत्यमरः।

कथं वक्ष्यतीत्याह क्षुद्रोऽपि कृपणोऽपि विमुखः पराङ्मुखः न भवति। कस्मिन् सति मित्रे सुहृदि प्रसे सति। किं कर्तुं संश्रयाय आश्रयितुं तुमर्थत्वाच्च भाववचनादिति चतुर्थी। अथ मित्रं सुहृद् सखेत्यमरः। कया विमुखोनभवति प्रथम सुकृतापेक्षया प्रथयं आदौ सुकृतं तस्य अपेक्षा तया यस्तथा उच्चैस्तुङ्ग सकिं पुनः। अथवा सानुमान् पर्वतः अन्यद् विशेषणम् आम्रैरुपलक्षितानि कूटानि यस्य सः ॥१७॥

छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रै—
स्त्वय्यारूढ़े शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे।
नूनंयास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां
मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः ॥१८॥

भेदाश्रयदानेन भूमृतापि वाचो भावयितुमाह-छन्नोपान्त इति-नूनं निश्चितम्। अमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां देवद्वन्दावलोकनीयांदशांयास्यति प्राप्स्यति। "अमरानिर्जरादेवाः" इत्यमरः। "स्त्रीपुसोर्मिथुनं द्वन्दं युग्मं तु युगुलं युगम्" इत्यमरः। किं अचलः काननाम्रै वनरसालै छन्नोपान्तः छादितपर्यन्तः। "गहनं काननं वनं, आम्रश्चूतोरसालोसौ सहकारोतिसौरभः इत्यमरः। किं विधैः परिणतफफलद्योतितुं शीलंमेषां तैः। सुष्यजातौणिनिस्ताच्छील्ये, इतिणिनिप्रत्ययः। कस्मिन्सति त्वयिशिरं श्रृङ्गं आरूढ़े सति। किं विधे स्निग्धवेणीसवर्णे स्निग्धा तैलसिक्ता अपरुषा चासौ वेणीव तयासमाना सदृशो वर्णो मेचको यस्य सः तस्मिन्। 'वर्णा द्विजादौ शुक्लादौवर्णास्तु लिखिताक्षरा" इत्यमरः। कइव भुवः मेदिन्याः स्तन इव कुच इव। किं विधः मध्ये श्यामः कृष्णः। पुनः शेषविस्तारपाण्डुः शेषश्चासौ विस्तारश्च परिसरः तत्र पाण्डुः गौरः ॥१८॥

अर्थ—परिपक्व फलों से सुशोभित वन प्रान्तीय आम के वृक्षों से ढके हुए किनारों वाला आम्रकूट पर्वत, चिकनी गुथी हुई चोटी के समान तुम्हारे शिखर पर आरुढ़ हो जाने पर निश्चय मध्यमें श्यामल तथा शेष

चारों ओर पीतगौरवर्णके पृथ्वी के स्तन के समान देवदम्पतियों के द्वारा दर्शनीय अवस्था को प्राप्त हो जाओगे ॥१८॥

स्थित्वा तस्मिन् वनचरवधूभुक्तकुञ्जे मुहूर्तं,
तोयोत्सर्गद्रुततरगतिस्तत्परं वर्त्मतीर्णः ।
रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णां,
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य ॥१९॥

स्थित्वेति—त्वं रेवां नर्मदां द्रक्ष्यसि प्रेक्षिष्यसे किं कृत्वा तस्मिन्नाम्रकूटे मुहूर्तं घटिकाद्वयं स्थित्वा आस्थाय । कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगेति द्वितीया । किं विधे वनचरवधूभुक्तकुञ्जे वनचाराणां वधोर्जायास्ताभिः भुक्तानि त्यक्तानि कुंजानि यस्य सः तस्मिन् । वधुर्जायास्नुषास्त्रो, निकुंज कुंजौ वा क्लीवे लतादि पिहितोदरे । किं विधः तत्परं त्वत्मर्तीर्णः तस्मात् परं तत्परं वर्त्म मार्गं तीर्णः अतिक्रान्तः । पुनः किं विधः द्रुततरगतिः शीघ्रगतिः ! अथ शीघ्रं त्वरितं लघुक्षिप्रं द्रुतमित्यमरः । कस्मात् तोयोत्सर्गात् नीरोत्सर्गात् । अंभोर्वास्तोयपानीयंनीरक्षीरांवुशंवरमित्यमरः । किं विधां रेवां विन्ध्यपादे विशीर्णां । पादाः प्रत्यन्तपर्वताः । इत्यमरः । हेतुगर्भविशेषणमाह-उपलविषमे उपलैःप्रस्तरैः विषमे असमे पाषाणोच्चनीचे । पाषाणप्रस्तरग्रावोपलाश्मानः शिलादृषदित्यमरः । तत्र कविरुत्प्रेक्षते गजस्य वारणस्य अंगे काये भक्तिच्छेदैः रचनाविशेषैः विरचितां विहितां भूतिमिव भस्मेव । भूतिभष्मनि संपदि ॥१९॥

अर्थ—वनेचरों की पत्नियों के द्वारा उपभोग के अनन्तर त्यागे गये कुञ्जों वाले उस आम्रकूट में कुछ क्षणों तक विश्राम कर, वरस जाने के कारण शीघ्रगति से अग्रिम मार्ग को पार कर, नतोन्नतपाषाणोवाले विन्ध्याचल पर्वत के प्रत्यन्तभागों में विखरी हुई धारा वाली नर्मदा नदी को, हाथी के अङ्गों में चित्र विचित्र रचित भष्म के समान देखोगे ॥१९॥

तस्यास्तिक्तैर्वनगज मदैर्वासितं वातवृष्टि—
जम्बूकुञ्जप्रतिहतरयं तोयमादाय गच्छेः ।
अन्तः सारं घन ! तुलयितुं नानिलः शक्ष्यति त्वां
रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाया ॥२०॥

तस्योपदेशनमाह तस्या इति । हे घन जलद । तस्याः रेवायाः । तोयं पानीयम् । आदाय गृहीत्वा । गच्छेः व्रजेः । किं विधः वातवृष्टिः उद्‌गीर्णवर्षः । किं विधं वनगजमदैः वासितं काननकरिमददानैः वासितं भावितम् । भावसिक्तं त्रिषुः । गंडः कटो मदो दानं वमथुः करिसीकरः इत्यमरः । किं विधैः तिक्तैः तिक्तरसवद्भिः रम्यैर्वा । कटुतिक्तं कषायस्तु-सौरभ्योपि प्रकीर्तितः । कषायो स्त्री मधुरोलवणः कटुतिक्तोऽम्लश्चरसाः पुंसि इत्यमरः । चपलतरंयातु कथं यायाम इत्याशंक्याह जम्बूकुंजप्रातिहतरयं सुरभिपत्रनिकुंजैः निरावृतं रयो वेगो यस्य तत् । जम्बूः सुरभिपत्रीवराज-जम्बूर्महाफलाः । तरसी तुरयः स्यन्दः जवो इत्यमरः । तोयग्रहणे लाभं दर्शयति अनिलः पवनः । अन्तःसारं अन्तर्वलं मनस्थिरं वा । त्वां भवन्तं तुलयितुं इस्ततोनेतुं । न शक्ष्यति न सामर्थ्ययुक्तो भविष्यति । अन्वय व्यतिरेकाभ्यां तमेवार्स्थमिङ्गयति हिः हेतावधारणे । हि निश्चितं सर्वो रिक्तः तुच्छः लघुरल्पो भवति । सारो वले स्थिरांशेच । तुल उन्मितौ तुमुन् णमुलौ क्रियायां क्रियार्थायामिति तुम् । असारे फलशून्यंतु वसिक्तं तुच्छरिक्तके । त्रिष्टेस्यल्पे लघुरित्यमरः । पूर्णता अन्तःसारः । पूर्णस्यभावः पूर्णता भावे प्रत्ययः । गौरवाय गुरुत्वाय भवति, तादर्थेचतुर्थी ॥२०॥

अर्थ—हे मेघ बरसजाने के अनन्तर तिक्तरसवाले वनैले हाथियों के दानवारि से सुवासित तथा जामुनके कुञ्जों से रोके गये प्रवाह वाली नर्मदा के जलको लेकर गमन करना । तब जलसे परिपूर्ण तुमको वहन करने में वायु असमर्थ हो जायेगा । क्योंकि सभी रिक्त वस्तु अल्प होती हैं और पूर्णता गौरव युक्त होती है ॥२०॥

नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशं केसरैरर्धरूढै-
राविर्भूतप्रथममुकुलाः कन्दलीश्चानुकच्छम् ।
जग्ध्वारण्येष्वधिकसुरभिं गन्धमाघ्राय चोर्व्याः
सारङ्गास्ते जललवमुचः सूचयिष्यन्ति मार्गम् ॥२१॥

हरितं च तत् कपिशं । किंविधैः अर्धरूढैः अर्धप्रादुर्भूतैः । किंजल्कः केशरोऽस्त्रियां । पलाशो हरितो हरित्श्यामः स्यात् कपिशोधूम्रधूमलौ कृष्ण-लोहितौ । नीपं दृष्ट्वा अलयो गुंजति इति ते मार्गसूचने हेतुः । साराणि अंङ्गनि येषां ते सारंगाः सारं शीघ्रम् गच्छन्ति वा हरिणाः । सकन्ध्वादि-षुपररूमंवाच्यम् इति पररूपम् । कन्दलीश्चदृष्ट्वा । किंविधाःयाःअविर्भूत-प्रथमुकुलाः आविर्भूताः प्रादुर्भूताः प्रथममुकुलः कुड्मलाः यासांताः कुड्-मलो मुकुलोऽस्त्रियाम् ।क्व! अनुकच्छम् कच्छं कच्छं अनुइति अनुकच्छम् । वीप्सायां अव्ययीभावः । तृतीया सप्तभ्योर्वहुलम् इत्यम् भावः । जलयुक्त प्रदेशेषु जलप्रायनूपं स्यात् पुंसि कच्छस्तथाविधः । कदलीरंन्तुम् हरिणः विचरन्तीति सूचने हेतुः । सारं सलीलं गच्छन्तीति सारंगाः करिणः । किं कृत्वा ऊर्व्याः मोदिन्याः । गन्धं, आमोदम् । आघ्राय च समुश्चर्य । किं विधं दग्धारण्येषु प्लुष्टाटवीषु अधिकसुरभिं सुगन्धिं अम्बुकणोक्षिताया: मेदिन्याः गन्धं गृहीत्वा करिणो सलीलं गच्छन्तीति सूचने हेतुः । अभि धाने त्वेवं—चातके हरिणे पुंसि सारङ्गः सवले त्रिषु । वसुधोर्वीवसुन्धरा । अरण्यरण्यं विपिनं गहनं वनम् काननमित्यमरः । चातकास्ते तव । मार्ग सूचयिष्यन्ति तव मार्गोपदेशं कथयिष्यन्ति । कुतः तेषां मदागमन-ज्ञानमित्याशंक्याह नीपं दृष्वा पूर्वविशेषेण युक्तं केवलं नीपं कदलीश्च न केवलं कदलीश्च उर्व्याः गन्धमाघ्राय । सर्वं चैतत् प्रावृट् चिह्नं प्रेक्ष्य सूच-यिष्यन्तीत्यर्थः ॥२१॥

अर्थ—अधउगे हुये केसर वाले हरे मटमैले कदम्ब के पुष्पों पर मड़राते हुये भौंरे, उगे हुये प्रथम मुकुल वाली कन्दली को कछारों

में चरने वाले हरिण, जंगलों में भूमि की अत्यधिक सुगन्धिको सूँघकर हाथी, ये सब जल कण को बरसने वाले तुम्हारे मार्ग को सूचित करेंगे ॥२१॥

अम्भोविन्दुग्रहणचतुरांश्चातकान् वीक्षमाणाः
श्रेणीभूताः परिगणनया निर्दिशन्तो वलाकाः ।
त्वामासाद्य स्तानितसमये मानयिष्यन्ति सिद्धाः
सोत्कम्पानि प्रियसहचरीसंभ्रमालिङ्गितानि ॥२२॥

अम्भो विन्दुः ग्रहणेति–सिद्धा सुरयोनयः । त्वां मानयिष्यन्ति अर्चयिष्यन्ति । कदा स्तनितसमये गर्जितकाले । किं प्राप्य सहचरीसम्भ्रमालिङ्गितानि आसाद्य घनसाधुवृतंचरेष्टः टित्वाद् डीप् । किंविधानि स्वोत्कंम्पानि उत्कंठया सह वर्तमानानि स्वोत्कंठानि । केचनैवंव्याख्यायन्ति त्वां आसाद्य प्रियसहचरीसम्भ्रमालिंङ्गितानि मानयिष्यन्ति । कस्मिन् सति स्तनितसमये अद्यसाधुजातं यत् स्वयं स्त्रीभिरालिङ्गिताः गर्जितश्रवणे अङ्गनाः स्वयं श्लिष्यन्ति । किं विधाः चातकान् वीक्ष्यमाणाः पश्यन्तः । किं विधान् अम्भोविन्दुग्रहणरभसान् पयोलवोपादनलंचलान् । पुनः किं विधाः वलाकाः विषकंठिकाः परिगणनया एकः द्वि, त्रि, संख्या निर्दिशन्तः निर्देशं कुर्वन्तः । किं विधाः वलाकाः श्रेणीभूत्ताः राजीभूत्ताः अवलिश्रेणिः लेखास्तु राजय इत्यमरः ॥२२॥

अर्थ—जल विन्दुओं का पान करने में चतुर चातकों को देखते हुये तथा श्रेणीवद्ध वकपङ्क्ति को परिगणन द्वारा निर्देश करने वाले सिद्ध लोग गर्जना के समय भय के कारण कम्पित होती हुई प्रिय सहचरियों के संभ्रमपूर्वक आलिङ्गन को प्राप्तकर तुम्हारा सन्मान करते हुये धन्यवाद देंगे ॥२२॥

उत्पश्यामिद्रुतमपि सखे मत्प्रियार्थं यियासोः
कालक्षेपं ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते च ।

शुक्लापाङ्गैः सजलनयनैः स्वागतीकृत्य केकाः
प्रत्युद्यातः कथमपि भवान् गन्तुमाशु व्यवस्येत् ॥२३॥

इदानीं मार्गसुन्दरत्वेन कालविलम्बनिषेधदर्शयितुमाह-उत्पश्यामीति हे जलद् । भवान् कथमपि केनचित्प्रकारेण आशु त्वरितं गन्तु व्रजितुं व्यवस्येत् उद्यमं कुर्यात् । षोनाशो विभाषा कथमलिटिते निषेधात् इति षस्यसः, दिवादिभ्यश्यन्, उतश्यनीति उकारस्य लोपः वि अवपूर्वः । कथंभूतः शुक्लापाङ्गैः शुक्लाः विशदाः अपाङ्गः नेत्रप्रान्तः येषां ते शिखिनः तैः प्रत्युद्यातः प्रत्युद्गतः कृताभ्याह्वानः । किं विधैः सजलनयनैः सजलानि साश्रूणि नयनानि लोचनानि येषां ते तैः । किं कृत्वा केकाः स्ववाणीः स्वागतीकृत्य मेघदर्शने मयूराः शब्दायन्ते सजलानिनयनानि च कुर्वन्ति इति लोक प्रसिद्धिः । अपाङ्गौ नेत्रयोरन्त इत्यमरः । गन्तुं प्रवृत्तस्य स्थातुं कारणं नास्ति इत्याशंक्याह—भो सखे मित्र । ते तव पश्यामि अवथा उत्प्रेक्षते, हेतुगर्भविशेषणम् । ककुभसुरभौ ककुभाः वृक्षविशेषा तैः सुरभिः सुगन्धिः यस्मिन् । कथं भूतस्य मत्प्रियार्थं ममप्रियं अभीष्टं अर्थः प्रयोजनं यस्मिन् गमने मत्प्रियार्थं द्रुतमपि क्षिप्रमपि यियासोः जिगमिषोः "सनाशंसभिक्षउः" ॥२३॥

अर्थ—हे मित्र ! मुझे सम्भावना है कि मेरे सन्देश रूप प्रिय कार्य का सम्पादन करने के लिये शीघ्रता पूर्वक जाने के लिये इच्छुक भी सुगन्धित वृक्षोंवाले प्रत्येक पर्वत पर समय लग ही जायेगा । वहाँ सजल नेत्र वाले मयूरों द्वारा मधुर ध्वनि के रूप में स्वागत किये गये जिस किसी प्रकार भी जाने के लिये प्रयास करना ॥५३॥

पाण्डुच्छायोपवनवृतयः केतकैः सूचिभिन्नै
नींडारम्भैर्गृहबलिभुजामाकुलग्रामचैत्याः ।
त्वय्यासन्ने परिणतफलश्यामजम्बूवनान्ताः
संपत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायिहंसाः दशार्णाः ॥२४॥

पाण्डुच्छायेति । दशार्णाः देशविशेषाः कतिपयदिनस्थायिहंसाः सम्पत्स्यन्ते कतिपयानि च तानि दिनानि च अहानि तेषु स्थातुं शीलः येषां ते हंसाः मरालाःयेषु ते । त्वयि आसन्ने सन्निकृष्टे सति । समीप निकटासन्ने सन्निकृष्टसनीडवद इत्यमरः । पुनः किं विधाः परिणतफल-श्यामजम्बूवनान्ताः परिणतानि पक्कानि च तानि फलानि तैः श्यामाः कृष्णाः जम्बूबनान्ताः सुरभिपत्रीकाननप्रान्ताः येषु ते । पुनः किं विधाः पाण्डुच्छायोपवनवृतयः पाण्डूवी विषदीच्छायाशोभा यात्सांताश्रोपवनवृतय आरामावरणानच ताः येषुते । आरमः स्यादुपवनं कृत्रिमं वनमेव च । कैः केतकैः । कि विधैः सूचिभिन्नैः सूचिभिः भिन्नानि शुक्लानितैः । पुनः किं विधाः आकुलग्रामचैत्याः आकुलानि च ग्रामचैत्यानि सहदेवस्थानानि येषां ते । कैः गृहवलिभुजां वलिपुष्ठानां काकानां नीडारम्भैः आश्रय-करणैः । एतत् सर्वं एषां चिह्नं ते देशाः ॥२४॥

अर्थ—हे मेघ तुम्हारे पहुँच जाने पर अर्धविकसित केतकी के पुष्पों से हरितवर्ण की उपवन वृत्तियों से युक्त, पके हुए जामुन के वृक्षों से श्याम वर्ण के वन वाले तथा कौओं के घोसलों के निर्माण से व्याप्त ग्राम वृक्षों से पूर्ण दशार्ण देश कुछ दिनों तक हंसों के निवास वाले हो जायेंगे ।

तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीं
गत्वा सद्यः फलमविकलं कामुकत्वस्य लब्ध्वा ।
तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यसि स्वादु तस्मात्
सभ्रूभङ्गं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मिः ॥२५॥

तेषामिति—त्वं वेत्रवत्याः नद्याः । तत्पयः अंबु पास्यसि । किं कृत्वा तेषा दशार्णानां दिक्षु सरित्सु राजधानीं पुरीं गत्वा । किं विधां प्रथित-विदिशालक्षणां प्रथितं विख्यातं विदिशालक्षणं यस्यां सा ताम् । पुनः कामुकत्वस्य कामुकस्य कर्मित्वभावः । तत् तस्य फलं सद्यः सपदि

लब्वा । किं विधं अविकलं समग्रम् । तत् किं यत् स्वादु मधुरं । पुनः किं चलोर्मि चंचला उर्मयो तरङ्गाः यत्र तत् । चलनं कंपनकं प्रचलनं लोलं चलाचलाभंगस्तरंगमुर्मि वा । स्त्रियां नीचैरथोर्मिषु । कथं यास्यसि तीरोपान्तस्तनितसुभगं तीरस्य रोधः उपान्ते दिष्टे यत्स्तनितं गर्जितं तेनसुभगं यत्र भवति तथा । कूलं रोधश्च नीरं च प्रतीरं च ततं त्रिषु । अत्र कवि रुत्प्रेक्षते सभ्रूभंगमुखमिव भ्रूभंगैः सह वर्तमानं सभ्रूभंगवक्रं । वक्रास्य वदनं तुण्डमाननं लपनमित्यमरः ॥२६॥

अर्थ—समस्तदिशाओं में विख्यात दशार्णों की राजधानी विदिशा में जाकर तुम कामुकत्व के समस्त फल को प्राप्त करोगे । क्योंकि चञ्चल तरङ्गोंवाली वेत्रवती के मधुर जल को तट में गर्जन की सुन्दरता के साथ भ्रूभङ्ग से युक्त नायिका के अधर पान के समान पान करोगे ॥२५॥

नीचैराख्यं गिरिमधिवसेस्तत्र विश्रामहेतो,
स्त्वत्संपर्कपुलकितमिव प्रौढ़पुष्पैः कदम्बैः।
यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणा,
मुत्कृष्टानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि ॥२६॥

नीचै रिति—तत्र तस्यां नगर्यां तं शैलं गिरि मधिवसेः अध्यासीथाः। कस्मात् विश्रामहेतोः विश्रामनिमित्तं उपन्वध्याङ्वसः इत्याधारस्य कर्मसंज्ञाकर्माणि द्वितीया । किं विधं नीचैराख्यं नीचैरितिआख्या नाम यस्येति तम् । कथं भूतमिव त्वत्सम्पर्कात् सवत्संयोगात् । पुलकितमिव रोमाञ्चितमिव पुलका जाता यस्येति तारकादिभ्यरितच् । कैः कदम्बैः प्रसिद्धैस्तरोभिः । किं विधैः प्रौढ़पुष्पैः प्रौढ़ानि पुष्पाणि प्रसूनानि येषां ते तैः, अथवा प्रौढ़पुष्पैः विकसितपुष्पैः । पुष्पाण्यनेकानि सन्ति ततः कदम्बैः कदम्बकुसुमैः । सः कः यः नागराणां परीणां यौवनानि तारुण्यानि प्रथयति आविष्करोति । कैः शिलावेश्मिभिः हषन्निकेतनैः । वेश्मसद्मनिकेतनम्, तारुण्यं यौवनसमेत्यमरः । किं विधानि रुत्कृष्टानि ।

किं विधैः पण्यस्त्री रतिपरिमलोद्‌गारिभिः। पण्ये विपणौस्त्रियो वनिताः तासां रतिसंभोगस्तत्र परिमलः जनमनोद्‌गरोगन्धस्तस्य उद्‌गारः विद्यते येषु ते तैः - विपणिर्पण्यविथिका। विमर्दोत्थे परिमलो गन्धे जनमनोहरे- इत्यमरः ॥२६॥

अर्थ—हे मेघ तुम्हारे सम्पर्क से पुलकित के समान विकसित कदम्ब के वृक्षों से युक्त नीच नामक गिरि में विश्राम के लिये आश्रय लेना। जो वेश्याओं के साथ रमण करते समय सुगन्धि को फैलानेवाले शिलाभवनों के द्वारा नागरिकों के उत्कट यौवन का स्पष्ट रूप से परिचय देता है ॥२६॥

विश्रान्तः सन्व्रजवननदीतीरजातानि सिञ्च-
न्नुद्यानानांनवजलकणैर्यूथिकाजालकानि।
गण्डस्वेदापनयनरुजाक्लान्तकर्णोत्पलानां,
छायादानात्क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम् ॥२७॥

विश्रान्तः सन्निति—हे पयोद! त्वं विश्रान्तः सन् व्रज गच्छ किं कुर्वन् उद्यानानां आक्रीड़ानांयूथिकाजालकानि वल्लीविशेषसमूहान् नवजलकणैः नूतनाम्बुविन्दुभिः सिंचन् सेचनं कुर्वन्। सिच् क्षरणे लट् क्षरतुदादिभ्यः शः। शेमुचादीनामितिनुम्। जालं समूहे। किं विधानि बननदीतीरजातानि वननदी सरित्समुत्पन्नानि। किं विधः पुष्पलावीमुखानां पुष्पाणि कुसुमानि लुलन्ति पुष्पलाव्यः, कर्मण्यण् अचोण्णिति वृद्धिः, टिड्ढाण- ञितिङीप्, यस्येति लोपः। तासां मुखानि आननानि तेषां क्षणपरिचितः क्षणं किंचित्कालं परिचितः अभ्यस्तः। कस्मात् छायादानात् आनातप- तरुणां छायासु या कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः। किं विधानां क्लान्त- कर्णोत्पलानां क्लान्तानि म्लानानि प्रतप्तानि कर्णोत्पलानि श्रवणकुवलयानि येषां तानि तेषाम्। स्यादुत्पलं कुवलयमथनीलाम्बुजन्मचेत्यमरः। कया

गण्डस्वेदापनयनरुजा गण्डयोः कपोलयोः स्वेदो घर्मस्तस्यापनयनं निराकरणं तदेव रुक् तया । घर्मो निदाघः स्वेदः स्यादित्यमरः ॥२७॥

अर्थ—हे मेघ ! नीच नामक पर्वत में विश्राम करने के अनन्तर वन नदी के तट में उत्पन्न उपवनों की जूही को नवीन जल कणों से सिंचन करते हुये तथा कपोलों पर आने वाले पसीने के कणों को बार बार पोंछने से कुम्हालायी हुई पंखुड़ियों के कर्णभूषण कमलों से युक्त पुष्प चुनने वाली वनिताओं से क्षण भर छाया दान के परिचय को प्राप्त करते हुये गमन करो ॥२७॥

वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां
सौधोत्संगप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः ।
विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानां
लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि ॥२८॥

वक्रः पन्थेति—उत्तराशां उदीचीं प्रस्थितस्य भवतो यद्यपि वक्रः अनृजुः पंथा मार्गः तथापि उज्जयिन्याः नगर्याः सौधोत्संगप्रणयविमुखः सौधानि राजसद्मानि तेषामुत्सङ्गः अङ्कः तत्र प्रणयः तस्य विमुखः पराङ्मुखः मा स्मभूः मास्म भवः, स्मोन्तरे लङ् चेति । वक्रवर्त्मनि गमने फलमस्तीत्याह—तत्र तस्यामुज्जयिन्याः पौराङ्गनानां नागरीणां लोचनैः नयनैः यदि न रमसे न सक्रियसे तर्हि वञ्चितोऽसि । किंविधैः लोलापाङ्गैः चंचलनयनप्रान्तैः । पुनः किंविधैः विद्युद्दामस्फुरितचकितैः विद्युत् तड़ित् तस्य स्फुरितं विलसितं तेन चकितानि भिन्नानि तैः ।

अर्थ—यद्यपि उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान करने वाले आपके लिये मार्ग टेढ़ा हो जायेगा । तो भी उज्जयिनी के राजप्रासादों के आनन्द से विमुख मत होना । यदि वहाँ बिजली के चमकने से चकित पौराङ्गनाओं के चंचल कटाक्षों का आनन्द न लिया तो तुम वंचित ही रह गये अर्थात् जन्म निष्फल ही होगा ॥२८॥

वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः
संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः ।
निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः सन्निपत्य
स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ।।२९।।

वीचीति—त्वं पथि वर्त्मनि भव एधि किं कृत्वा निर्विन्ध्याभिधाया निर्गता विन्ध्यात् निर्विन्ध्या नदी अथवा निर्विन्ध्याभिधा या नदी तस्याः रसाभ्यन्तरः पयः श्रृंगारो वा तस्याभ्यन्तरं मध्यं सन्निपत्य सम्यक् संगत्य, अकर्मकधातुयोगे देशवाचकाद् द्वितीयेति केचित् । श्रृंगारादौ विषये वीर्ये गुणे रागे द्रव्ये रस इत्यमरः । किंविधायाः वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकांचीगुणायाः वीचयस्तरङ्गास्तेषां क्षोभस्तेन स्तनितानि नदितानि च ते विहगाः पतत्रिणश्च तेषां श्रेणिः पंक्तिः सैव कांचीगुणो मेखलादाम यस्याः सा तस्याः । खगो विहगो विहङ्गम विहायसः । स्त्रीकट्यां मेखला कांची सप्तकी रसना क्रिया । पुनः किंविधायाः संसर्पन्त्याः गच्छन्त्याः कथं स्खलितसुभगं स्खलितेन सुभगं स्खलितसुभगं यथा भवति तथा । पुनः किंविधायाः दर्शितावर्तनाभेः दर्शितः आविर्भावित आवर्त अम्भसां भ्रम एव नाभिर्यस्याः सा तस्याः । आवर्तः तोयसंभ्रमः । वनितास्वभावं दर्शयति हि निश्चयेन प्रियेषु कान्तेषु स्त्रीणां योषितां विभ्रभो विलासः अंगप्रत्यङ्गदर्शनचेष्टा, आद्यं प्रथमं भाषितम् । किंविधं प्रणयि प्रणयः प्रेम विभ्रमो अस्मिन् तत् । चेष्टालंकारविभ्रम इत्यमरः ।।२९।।

अर्थ—मार्ग में जाते हुये, तरंगों से क्षुभित अतएव शब्द करने वाले पक्षियों की श्रेणी रूप करधनी से युक्त पतनोत्पतन से सुन्दर जलावर्तरूपी नाभिको प्रदर्शित करने वाली बहती हुई निर्विन्ध्या नदी में प्रविष्ट कर पर्याप्त जलग्रहण कर लेना । स्त्रियों का अपने प्रेमियों के प्रति हाव-भाव प्रदर्शित करना प्रथम प्रणय वचन होते हैं ।।२९।।

वेणीभूतप्रतनुसलिला तामतीतस्य सिन्धुः
पाण्डुच्छायातटरुहतरुभ्रंशिभिर्जीर्णपर्णैः ।
सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः ।३०।

वेणीति—हे सुभग सुकीर्ते सा नदी येन विधिना कार्श्यं कृशत्वं दौर्बल्यं त्यजति जहाति स विधिस्त्वयैवोपपाद्यः कर्तव्यः ऋहलोण्यंत् णित्वाद्वृद्धिः । विधिर्विधानमपीत्यमरः । किंविधा ते तव सौभाग्यं सुभगत्वं विरहावस्थया वियोगावस्थया व्यंजयन्ती । तदेव दर्शयति-किंविधस्य ते तां निर्विन्ध्यां नदीमतीतस्य अतिक्रान्तस्य । देशे नदविशेषे द्वौ सिन्धावपि सरित्स्त्रियाम् । किंविधा वेणीभूतप्रतनुसलिला वेणीभूतं प्रतनुसलिलं यस्याः सा । वेणीबन्धो हि विरहिणीनां कर्म । पुनः किंविधा पाण्डुच्छाया पाडूवो छाया कान्तिर्यस्या सा विरहिण्यो हि पाण्डुच्छाया भवन्ति । कैः जीर्णपर्णैः जीर्णानि जातानि पर्णानि दलानि च तैः । पत्रं पलाशं छदनं दलं पर्णं छदः पुमान् । किंविधैः तटरुहतरुभ्रंशिभिः तटरुहास्तीरोद्भवाश्च ते तरवः पादपाः तेभ्यः भ्रंशन्तीति तानि तैः । सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये-इति णिनि प्रत्ययः । अथवा भ्रंशो विद्यते येषां तानि इति अपत्यर्थे इन् ॥३०॥

अर्थ—उस निर्विन्ध्या नामक नदी को पार करने के अनन्तर पतली धार वाली तट के वृक्षों से गिरे हुये पीले पत्तों से पीली कान्तिवाली सिन्धु नदी अपनी वियोगावस्था से तुम्हारे सौभाग्य को व्यक्त करती हुई प्राप्त होगी । वह जिस प्रकार से अपनी दुर्बलता दूर कर सके तुम्हें वही उपाय करना चाहिये अर्थात् वृष्टि करनी चाहिये ॥३०॥

प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्
पूर्वोद्दिष्टामनुसर पुरीं श्रीविशालां विशालाम् ।
स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम् ॥३१॥

प्राप्येति—पूर्वोद्दिष्टां प्रथमकथितां उज्जयिनीं पुरीं नगरीं अनुसर अनुलक्ष्यीकृत्य गच्छ। अनुर्लक्षण इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञा कर्मप्रवचनीययोगे द्वितीया। किंविधां विशालां विविधानेकप्रकारवाजिगजनृत्यशीलाः यस्यां सा तां। पुनः किंभूतां श्रीविशालां श्रिया लक्ष्म्या विशालां। अथवा श्री विशाला यस्यां सा। किं कृत्वा अवन्तीन् देशविशेषान् प्राप्य। किंविधान् उदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान् उदयनस्य राज्ञो विदुषो वा कथा सत्सुधियः प्रबन्धकल्पनास्तासु कोविदा सुविचक्षणाः ग्रामवृद्धाः ग्रामस्थविराः येषु तान्, सत्सुधीः कोविदो बुधः—इत्यमरः। अत्र कविरुत्प्रेक्षते स्वर्गिणो गां पृथ्वीं गतानां प्राप्तानां शेषैः पुण्यैः सुकृतैः हृतं दिवः स्वर्गलोकस्य एकं कान्तिमत् शोभायुक्तं खण्डमिव। कस्मिन् सति सुचरितफले स्वल्पीभूते। क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्तीति भूते ॥३१॥

अर्थ—हे मेघ! उदयन की कथा से विज्ञ ग्रामवृद्धों वाली अवन्ती नगरी को प्राप्त कर उस धनसम्पन्न विशाला नामक (उज्जैनी) नगरी की ओर अनुसरण करना। जो भूमिस्थ स्वर्गियों के सत्कर्म के फल के न्यून हो जाने पर शेष पुण्यों के द्वारा आकाश से हरण की गई, कान्तिसम्पन्न एक अंश के समान प्रतीत होती है ॥३१॥

दीर्घीकुर्वन् पटुमदकलं कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः ॥३२॥

यत्र यस्यां नगर्यां शिप्रावातः सुरतग्लानिं हरति। कथंभूतः अङ्गानुकूलः अङ्गानां शरीराणां अनुकूलः सुखहेतुः, वल्लभो यथा अंगनानां सुरतखेदं हरति। किंविधः अनुकूलः परिपुटिका दानेन तु। व्यवायो ग्राम्यधर्मो मैथुनं निधुवनं रतमित्यमरः। किं कुर्वन् सारसानां चक्रवाकाणां

कूजितं शब्दितं दीर्घीकुर्वन् । किंविधं पटुतरम् । पुनः मदकलं मदेन कलं मदकलम् अथवा पटुमदकलं पटुश्चासौ मदश्च तेन कलं गभीरम् । प्रत्यूषेषु अहर्मुखेषु, प्रत्यूषोऽहर्मुखं कल्यमित्यमरः । पुनः किंविधः स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः स्फुटितानि विकसितानि च कमलानि तेषामामोदः परिमलस्तेन मैत्री अर्थात्संयोगलक्षणकसंबन्धः तया कषायः रम्यः । कविसमये वायुस्त्रिविधो वर्णः मन्दसुगन्धसुशीतलश्च अंगानुकूल इत्यनेन अनुकूलं कथितम् । स्फुटितकमलेत्यनेन सुगन्धित्वमचीकथत् । शिप्रावातः इत्यनेन शैत्यमवासि । क इव प्रियतम इव अतिशयेन प्रियः प्रियतमः वल्लभः । यथा वल्लभः अङ्गनानां सुरतखेदं हरति किंविधः अनुकूलः पुटपुटिकादानेन प्रियागात्रायात्यन्तसुखप्रदम् । किं कुर्वन् सारसानां रसेन श्रृंगारेण सहितानां स्त्रीणां कूजितं रतिकूजितं कुर्वन् । अन्यत् समानं किंविधः प्रार्थनाचाटुकारः प्रार्थनया संभोगप्रार्थनया चाटुप्रियं वाक्यं करोतीति कर्मण्यण् । चटु चाटु प्रियं वाक्यमित्यभिधाने ॥३२॥

अर्थ—हे मेघ ! जिस उज्जैनी नगरी में प्रातःकाल सारसों के मधुर-मधुर कूजन को मद से मधुर बनाते हुए तथा खिले हुए कमलों की सुगन्धि के सम्पर्क से कसैला तथा अङ्गस्पर्श के अनुकूल शिप्रानदी को स्पर्श कर आनेवाला वायु प्रार्थना करने में चतुर प्रियतम के समान सुरत क्रीड़ा की थकावट को दूर करता है ॥३२॥

हारांस्तारांस्तरलगुटिकान्कोटिशः शङ्खशुक्तीः
शष्पश्यामान्मरकतमणीनुन्मयूखप्ररोहान् ।
दृष्ट्वा यस्यां विपणिरचितान्विद्रुमाणां च भङ्गा-
न्संलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषाः ॥३३॥

हारानिति—हे मेघ ! सलिलनिधयः जलनिधयः तोयमात्रावशेषाः केवलं तोयमात्रमवशेषो येषां ते, संलक्ष्यन्ते संतर्क्यन्ते विश्रीयन्ते । अल्पे च परिमाणे च मात्रकस्येव धारणे इत्यमरः । किं कृत्वा यस्यां

नगर्यां विपणिरचितान् वीथिकारचितान् हारान् मुक्तावलीः दृष्ट्वा प्रेक्ष्य किंविधान् तारान् शुद्धान् उरःसूत्रिकामौक्तिकैः कृतान्। हारो मुक्तावलीत्यमरः। मुक्ताशुद्धोवतारः स्यादित्यमरः। किंविधान् तरलगुलिकान् तरलाश्च ताः गुलिका येषां ते तान्। अथवा नायकमध्यमणियुक्तान् हारमध्यस्थितं रत्नं नायकं तरलं विदुः इति। कति कोटिशः कोटिसंज्ञकाः न केवलं हारान् शंखशुक्तिश्च शंखाः कंबवश्च। च समुच्चये मरकतमणीन्। किंविधान् शष्पश्यामलान् बालतृणनीलान्। गारुत्मकं मरकतमश्मगर्भहरिन्मणिः। शष्पं बालतृणं घास इत्यमरः। पुनः किंविधान् उन्मयूखप्ररोहान्। गभस्तिघृणिरश्मयः। न केवलं कृत्वा विद्रुमाणां प्रवालानां भंगान् खण्डान् च दृष्ट्वा। मुक्ताथ विद्रुमः पुंसि प्रवालं पुंनपुंसकम् इत्यमरः॥३३॥

अर्थ—उस उज्जयिनी नगरी में बेचने के लिये रत्नजटित शुद्ध करोड़ों मोतियों की मालाओं, शंख तथा सूक्तियाँ, घास के वर्ण की किरणों वाली मरकतमणियाँ, मूँगों के टुकड़े आदि देखकर यही अनुमान होगा कि समुद्र में जलमात्र ही रह गया है॥३३॥

प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्रे
हैमं तालद्रुमवनमभूदत्र तस्यैव राज्ञः।
अत्रोद्भ्रान्तः किल नलगिरिः स्तम्भमुत्पाट्य दर्पा-
दित्यागन्तून्रमयति जनो यत्र बन्धूनभिज्ञः॥३४॥

प्रद्योतस्येति—हे मेघ! यत्र यस्यां नगर्यां जनो लोकः आगन्तून् आगतान् बन्धून् सुहृदः इति अनेन प्रकारेण रमयति क्रीड़यति। मितां ह्रस्वः आगच्छन्तीत्यागतवन्तः तान्। किंविधः निपुणः अभिज्ञः। अत्र अस्यां नगर्यां वत्सराजः कश्चित् भूपतिः प्रद्योतस्य नान्यः राज्ञः प्रियदुहितरं बालिकामाजह्रे आहृतवान्। स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले इति कर्तरि आत्मनेपदम्। अन्यच्च अत्र अस्यां तस्यैव प्रद्योतस्य राज्ञः हैमं

हेम्नः सुवर्णस्येदं हैमतालद्रुमवनं तालाश्च ते द्रुमाश्च तेषां वनं काननं अभूत् आसीत् । स्वर्णं सुवर्णं कनकं हिरण्यं हेम हाटकम् । तृणराजाह्वयस्ताल इत्यमरः । अत्र अस्यां नगर्यां नलगिरिः नलगिर्याख्यो हस्ती दर्पान्मदात् स्तम्भं स्थूणं उत्पाट्य उद्भ्रान्तः अतिशयेन भ्रान्तश्चलितः किल इति वार्ता श्रूयते वार्ताभावयोः किल इत्यमरः ॥३४॥

अर्थ—इसी प्रदेश में वत्सनरेश उदयन ने प्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता का हरण किया था। यहीं उनका सुवर्णतालद्रुम का वन था। इसी स्थान पर मद से चूर होकर नीलगिरि नामक हाथी खम्भों को उखाड़कर पागल की भाँति भागता था। इस प्रकार लोग आगन्तुक बन्धुओं को कथायें सुनाकर उनके मन को बहलाते हैं ॥३४॥

जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशसंस्कारधूपै-
र्बन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः ।
हर्म्येष्वस्याः कुसुमसुरभिष्वध्वखिन्नान्तरात्मा
लक्ष्मीं पश्यंल्ललितवनितापादरागाङ्कितेषु ॥३५॥

जालोद्गीर्णैरिति—भर्तुः कण्ठेति द्वाभ्यां युग्मम् । हे मेघ ! त्वं चण्डीश्वरस्य भवानीपतेः धाम गृहं यायाः गच्छेः किं कृत्वा अस्याः नगर्याः हर्म्येषु धनिकसद्मसु अध्वखेदं श्रमं नीत्वा अतिक्रम्य । किंविधेषु ललितवनितापादरागाङ्कितेषु ललिताः सुन्दराश्च वनिता सानुरागा योषितश्च तासां पादरागः लाक्षारससम्बन्धिनो अलक्तकासौ अंकितानि चिह्नितानि तेषु । पुनः किंविधेषु कुसुमसुरभिषु पुष्पसुगन्धिषु । किंविधः अध्वखिन्नान्तरात्मा अध्वनि पथि खिन्नः खेदं प्राप्तः अन्तरात्मा यस्य सः । पुनः कथंभूतः केशसंस्कारधूपैः केशाः कचो तेषां संस्कारो गुणाः धारं तस्मै धूपः तैः । उपचितवपुः उद्विहिततनुः । चिकुरः कुन्तलो वारः कचो केशाः शिरोरुहाः इत्यमरः । किंविधैः जालोद्गीर्णैः गवाक्षनिर्गतैः । किंविधः भवनशिखिभिः मन्दिरमयूरैः दत्तनृत्योपहारः बलिरस्मै सः । भवनागार-

मन्दिरम्, शिखाचलः शिखाकेशा इत्यमरः । कया बन्धुप्रीत्या सुहृदस्नेहेन मेघदर्शनेन बर्हिणो नृत्यन्ति शब्दायन्ते इति लोकप्रसिद्धिः ॥३५॥

अर्थ—गवाक्षों से निसृत, केशों को सुगन्धित करने के लिये दी गई धूप से अपने शरीर को पुष्ट करते हुए, बन्धुप्रेम से भवनों के मयूरों के द्वारा नृत्यरूप उपहार को प्राप्त कर, पुष्पों से वासित एवं रमणियों के चरणलाक्षारस से चिन्हित शोभावाले भवनों को देखकर मार्ग की थकावट दूर करना ॥३५॥

भर्तुः कण्ठच्छविरिति गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः
पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य ।
धूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्या-
स्तोयक्रीड़ानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः ॥३६॥

किंविधं धाम पुण्यं पवित्रं किंविधस्य त्रिभुवनगुरोः त्रिभुवनस्य स्वर्गभूपातालस्य गुरुः शासनोत्पत्तिहेतुः तस्य । किंविधस्त्वम् गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः विलोक्यमानः । इति किं भर्तुः शिवस्य कंठछविः नीलकंठत्वात् भर्तुः कंठो गलो ग्रीवायां । शोभा कान्तिः छविरित्यमरः । कथंभूतं मरुद्भिः पवनैः धूतोद्यानं धूतानि कम्पितानि उद्यानानि साधारणवनानि यत्र तत्—मन्दत्वं दर्शितम् । किंविधैः कुवलयरजोगन्धिभिः एतेन सुगन्धित्वं कथितम् । पुनः किंविधैः गन्धवत्यास्तोयक्रीड़ानिरतयुवतिस्नानतिक्तैः तोये सलिले क्रीडा खेलनं तत्र निरताश्च ताः युवतयस्तरुण्यश्च तासां स्नानानि आप्लवास्तैः तिक्ताः रम्याः शीतलत्वम् ॥३६॥

अर्थ—हे मेघ ! शिव के कण्ठ के समान कान्ति युक्त होने के कारण शिव गणों के द्वारा आदरपूर्वक देखे गये, तुम त्रिभुवन शिव के पवित्र धाम उज्जैन जाना जहाँ कमलों के पराग से सुगन्धित एवं जलक्रीड़ा में निरत स्त्रियोंके अंगराग से सुवासित गन्धवती को स्पर्श करके आने वाला वायु उद्यानों को आन्दोलित करता रहता है ॥३६॥

अप्यन्यस्मिन् जलधर महाकालमासाद्य काले
स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानुः ।
कुर्वन् सन्ध्यावलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीया-
मामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम् ॥३७॥

अप्यन्यस्मिन्निति—हे जलधर धाराधर ! यावद् भानुः सहस्रांशुः नयनविषयं लोचनगोचरम् अभ्येति आगच्छति तावत् ते तव स्थातव्यम् आसीतव्यम् । कथं अन्यस्मिन्नपि काले समये । धाराधरो जलधरस्तडित्वान्वारिदोऽम्बुभृत्, भानुर्हंसः, नयनं चक्षुर्लोचनम्, इत्यमरः । कृत्यानां कर्तरि वा, अनेन त्वया इत्यस्मिन्नर्थे षष्ठी । किं कृत्वा महाकालमासाद्य प्राप्य । स्थितेः फलं दर्शयति । गर्जितानां स्तनितानां फलं प्राप्यसे प्राप्स्यसि । किंविधं अविकलं समग्रं । किंविधानां आमन्द्राणाम्, आ ईषन्मन्द्राणां गभीराणाम् । कलो मंद्रस्तु गंभीर इत्यमरः । किं कुर्वन् शूलिनो महेश्वरस्य सन्ध्यावलिपटहतां कुर्वन् विदधन् । सन्ध्यायां दिनान्ते यो वलिः उपहारस्तत्र पटहः दुन्दुभिः तस्य भावः: ताम् । किंविधां श्लाघनीयां स्तुत्याम्, श्लाघ कत्थने ॥३७॥

अर्थ—हे मेघ ! महाकाल के मन्दिर में पहले पहुँचने पर भी तुम वहाँ तबतक रुकना जबतक सूर्यास्त न हो जाये । क्योंकि महाकाल की दर्शनीय सन्ध्या की पूजा में नगाड़े की ध्वनि के समान अपने गम्भीर गर्जन का फल तुम प्राप्त करोगे ॥३७॥

पादन्यासैः क्वणितरसनास्तत्र लीलावधूतै
रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः ।
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान्प्राप्य वर्षाग्रविन्दू-
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान् कटाक्षान् ॥३८॥

पादन्यासेति—तत्र तस्मिन् स्थाने, वेश्याः गणिकाः त्वयि भवति कटाक्षान् वक्रावलोकनानि मोक्षिष्यन्ति मोक्ताः मुक् मोक्षणे लृट् । किं-

विधान् मधुकरश्रेणिदीर्घान् मधुकराः षट्पदाः तेषां श्रेणिः पङ्क्तिः तद्वद् दीर्घास्तान्। मधुव्रतो मधुकरो मधुलिट् मधुकेलिनः। किं कृत्वा त्वत्तः भवतः वर्षाग्रबिन्दून् वृष्टिप्रथमकणान् प्राप्य। किंविधान् नखपद-सुखान् सुखयन्तीति सुखा नखरुहपदानां कररुहक्षतानां सुखाः तान्। पुनर्भवः कररुहो नखोऽस्त्री नखरोऽस्त्रियाम् इत्यमरः। किंविधाः पादन्यास-क्वणितरसनाः पादन्यासेन चरणारोपणेन क्वणिताः शब्दायमाना रसना मेखला यासां ताः पुनः किंविधाः चामरैः प्रकीर्णकैः क्लान्तहस्ताः खिन्नपाणयः। चामरं तु प्रकीर्णकम्,। हस्तौ तु पाणिनक्षत्रे इत्यमरः। पुनः किंविधैः रत्नच्छायाखचितवलिभिः रत्नानां मणीनां छाया कान्तयः ताभिः खचितानि वलभीनि येषु तानि तैः ॥३८॥

अर्थ—पैरों को रखने से शब्दायमान करधनी वाली तथा रत्न जटित चमरों को लीलापूर्वक झलने से थके हुए हाथोंवाली वेश्यायें नखक्षतों पर तुमसे वर्षा के बूँदों को प्राप्तकर भौंरों की श्रेणियों के समान दीर्घ कटाक्षों से तुम्हें देखेंगी ॥३८॥

पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिनीलः
　　सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः।
नृत्यारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां
　　शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या ॥३९॥

पश्चादिति—हे मेघ! पश्चात् तदनु पशुपतेः कपर्दिनः आर्द्रनागाजिने-च्छाम्- आर्द्रं क्लिन्नं च तत् नागाजिनं वारणचर्म तस्य इच्छा अभिलाषः तां हर अपनय। मतङ्गजो गजो नागः। अजिनं चर्म कृत्तिः स्त्रीत्यमरः। क्व नृत्यारम्भे नर्तनोपक्रमे। लास्यं नृत्यं च नर्तनमित्यमरः। किंविधः मण्डलेन भुजतरुवनं भुजाः बाहव एव तरवः द्रुमास्तेषां वनं काननं तत्राभिलीनः अभिलक्ष्यीकृत्य लीनः स्थितः। विंबोऽस्त्री मंडलं त्रिषु। भुजबाहु। पादपस्तरव इत्यमरः। किंविधं उच्चैः महत्। अल्पे नीचैर्मह-

त्युच्चैरित्यमरः। किंविधं सान्ध्यं तेजो दीप्तिर्दधानः बिभ्राणः। धत्ते इति दधानः। कर्तरि आत्मनेपदे शानच्। किंविधं विकसितजपापुष्परक्तम् विकसितानि फुल्लानि जपापुष्पाणि रक्तपुष्पिकाकुसुमानि तद्वद् रक्तं लोहितम्। किंविधः उमया भवान्या दृष्टभक्तिः दृष्टा भक्तिर्भजनं यस्येति सः। कथम् शान्तोद्वेगस्तिमितनयनम् शान्तश्चासावुद्वेगश्च तेन स्तिमितदृष्टिः भयाभावेन स्तिमिते निश्चले नयने लोचने यत्र तद्यथा भवति तथा ॥३९॥

अर्थ—हे मेघ! इसके अनन्तर महाकाल के ताण्डवनृत्य आरम्भ करने पर जपापुष्प के समान लालिमा से युक्त तुम उनके ऊँचे भुजरूपी वनों के ऊपर मंडलाकार छा जाना। तब पार्वती शान्तचित्त होकर तुम्हारी दृढ़भक्ति देखेंगी और शिव की आर्द्रगजचर्म की इच्छा भी पूर्ण होगी ॥३९॥

गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र नक्तं
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः।
सौदामिन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वीं
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मास्म भूर्विक्लवास्ताः ॥४०॥

परोपकारसूचनेन मेघं प्रोत्साहयन्नाह—गच्छन्तीनामिति—तस्मिन् स्थाने ताः उर्वीं वसुमतीं दर्शय। कया सौदामिन्या तडिता किंविधया कनकनिकषस्निग्धया कनकस्य सुवर्णस्य निकषो लेखा तद्वद्स्निग्धा तेजस्विनी सुन्दरा तया। कदा नक्तं रात्रौ। तोयोत्सर्गस्तनितमुखरः तोयस्य अम्भसः उत्सर्गो मोचनं तेन स्तनितं गर्जितं तेन मुखरः वाचाटो मास्म भूः मास्म भवः। हेतुगर्भविशेषणमाह—किंविधाः विक्लवाः विशेषेण भीरवः। कस्मिन् सति योषितां स्त्रीणां नरपतिपथे राजमार्गे रुद्धालोके रुद्धप्रकाशे सति। तदेव दर्शयति—तमोभिः तिमिरैः। किंविधैः सूचिभेद्यैः सूचिभिः भेद्यानि सूक्ष्मतीक्ष्णशस्त्रैः भेद्यानि तैः। किं-

विधानां रमणवसतिं गच्छन्तीनां व्रजन्तीनाम् । अथवा हे मेघ ! तत्र त्वं योषितां उर्वीं दर्शय । हे मेघ ! तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो माभूः अतिवर्षणं मा कृथाः । ननु गर्जितेन को दोषः स्यात् यतः कारणात् ताः स्त्रियो विक्लवा विशेषेण भीरवः ॥४०॥

अर्थ—उस उज्जैनी में रात्रि को घोर अन्धकार से राजमार्ग के प्रकाशहीन हो जाने पर अपने प्रिय के निवास की ओर जाने वाली स्त्रियों को, कसौटी पर सुवर्णरेखा जैसी बिजली के द्वारा मार्ग-दर्शन कराना। किन्तु जलवर्षण के समय गर्जन मत करना, क्योंकि वे स्वभावतः भीरु स्वभाव वाली हैं ॥४०॥

तां कस्यांचिद्भवनवलभौ सुप्तपारावतायां
नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात्खिन्नविद्युत्कलत्रः ।
दृष्टे सूर्ये पुनरपि भवान्वाहयेदध्वशेषं
मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः ॥४१॥

तामिति—भवान् पुनरपि भूयोऽपि अध्वशेषं मार्गशेषं वाहयेत् अतिक्रमेत् । कस्मिन् सति सूर्यप्रकाशे दृष्टे सति । किं कृत्वा तां रात्रिं रजनीं कस्यांचिद्भवनवलभौ मन्दिरगोपानस्यां नीत्वा अतिक्रम्य । गोपानसी तु वलभी छादने वक्रदारुणीत्यमरः । किंविधायां सुप्तपारावतायां शयितकलरवायाम् । पारावतः कलरवः इत्यमरः । किंविधः खिन्न-विद्युत्कलत्रः खिन्नं खेदप्राप्तं विद्युत् कलत्रं भार्या यस्येति सः । कलत्रं श्रोणि-भार्ययोरित्यमरः । कस्मात् चिरविलसनात् चिरप्रकाशनात् । तमेवार्थम-र्थान्तरेण दर्शयति खलु निश्चयेन सुहृदां मित्राणां अभ्युपेतार्थकृत्याः अभ्यु-पेतो अर्थः प्रयोजनं तस्य कृत्याः क्रियाः यैस्ते न मन्दायन्ते मन्दा इव आचरन्ति मन्दायन्ते । कर्तुः क्वि सलोपश्चेति क्यङ् ॥४१॥

अर्थ—हे मेघ ! बहुत काल तक प्रकाश करने के कारण थकी हुई पत्नीवाले तुम सोते हुए कबूतरोंवाले किसी छज्जे पर रात्रि को बिता

पुनः सूर्योदय होने पर शेष मार्ग को पार करना। क्योंकि मित्रों के कार्य का भार लेनेवाले व्यक्ति विलम्ब नहीं करते ॥४१॥

तस्मिन् काले नयनसलिलं योषितां खण्डितानां
शान्तिं नेयं प्रणयिभिरतो वर्त्म भानोस्त्यजाशु।
प्रालेयास्रं कमलनयनात्सोऽपि हर्तुं नलिन्याः
प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यसूयः ॥४२॥

तस्मिन्निति—अपि सम्भावनायां। सः सूर्यः त्वयि भवति अनल्पाभ्यसूयः प्रभूतकोपः स्यात् न अल्पा अभ्यसूया ईर्ष्या यस्य सः स्यात् भवेत्। अक्षान्तिरीर्ष्यास्त्रियां तु दोषारोपो गुणेष्वपि। किंविधे कररुधि करान् मरीचान् रुणद्धीति कररुत् तस्मिन्। भानुः करो मरीचिस्त्री-पुंस्त्वयोर्दीधितिस्त्रियामित्यमरः। नलिन्याः कमलनयनात् कमलं सहस्रपत्रं तदेव नयनं तस्मात्। प्रालेयास्रं तुहिनं तदेव अस्रं अश्रु हर्तुं शमयितुम् प्रत्यावृत्तः समागतः। अतः अस्मात् हेतोः भानोः सहस्रांशोः वर्त्म मार्गम् आशु झटिति त्यज जहीहि। तदेव दर्शयति-तस्मिन् काले समये योषितां नारीणां नयनयोः सलिलं लोचनाम्बु शान्तिं शमं नेयं प्राप्यम्। कयि प्रणयिभिः। किंविधानां खण्डितानाम्। यां सन्त्यज्य भर्ता रात्रावन्यत्र गच्छति सा खण्डितेत्युच्यते। निद्राकषायकलुषीकृतताम्रनेत्रो, नारीनख-व्रणविशेषविचित्रिताङ्गः। यस्याः कुतोऽपि गृहमेत्य पतिः प्रभाते सा खण्डितेति कथिता कविभिः पुराणैः ॥४२॥

अर्थ—हे मेघ! प्रातःकाल प्रियतम अपनी खण्डिता नायिकाओं के अश्रु पोंछ रहे होंगे अतः सूर्य के मार्ग को शीघ्र छोड़ देना और सूर्य भी नलिनी प्रियतमा के कमलनेत्रों के ओसरूपी अश्रुओं को पोंछने के लिये लौटे होंगे, यदि उनके करों को रोकोगे तो वे बहुत अप्रसन्न होंगे ॥४२॥

गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने
छायात्मापि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम्।

तस्मादस्याः कुमुदविशदान्यर्हसि त्वं न धैर्या-
न्मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि ॥४३॥

गम्भीराया इति—अपि अति सम्भावने। हे मेघ! गम्भीरायाः गम्भीराभिधायाः सरितः पयसि तोये छायात्मा प्रतिबिम्बरूपं प्रवेशं प्राप्स्यते प्राप्स्यसि। किंविधे प्रसन्ने। कस्मिन् विधे चेतसि चित्त इव। किंविधः प्रकृतिसुभगः प्रकृत्या स्वभावेन सुभगः सुन्दरः। तस्मात् कारणात् अस्याः गम्भीरायाः चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि चटुलानि चंचलानि च तानि सफराणां मत्स्यविशेषाणां उद्वर्तनानि उत्सलिलानि च तान्येव प्रेक्षितान्येव प्रेक्षितानि विलोकितानि मोघीकर्तुं नार्हसि। अमोघानि अनिरर्थकानि मोघानि कर्तुं। अभूत तद्भावे कृभ्वस्तियोगे च्विः। कस्मात् धैर्यात् लक्षणात्। किंविधानि कुमुदविशदानि कुमुदवत् विशदानि श्वेतानि ॥४२॥

अर्थ—गम्भीरा नदी के चित्त के समान प्रसन्न जल में स्वभावतः सुन्दर तुम्हारी छाया प्रतिबिम्बित होगी। अतः उस नदी में कुमुद के समान स्वच्छ चंचलतापूर्ण अवलोकन को निष्फल मत कर देना ॥४२॥

तस्याः किंचित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं
नीत्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधोनितम्बम्।
प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि
ज्ञातास्वादो विपुलजघनां को विहर्तुं समर्थः ॥४४॥

तस्याः इति—हे सखे हे सुहृद्! ते तव प्रस्थानं गमनं कथमपि केनचित्प्रकारेण भावि भविष्यति। किंविधस्य ते लंबमानस्य अवलम्बमानस्य उपरि वर्तमानस्य। किं कृत्वा तस्याः सलिलवसनं सलिलं कं तदेव वसनं चैलं हृत्वा। किंविधं नीलं कृष्णं। वस्त्रमाच्छादनं वासश्चैलं वसनमंशुकमित्यमरः। पुनः किंविधम् मुक्तरोधोनितम्बम् मुक्तस्त्यक्तो रोधस्तीरमेव नितम्बो येन तत्। पश्चान्नितम्बं स्त्री क्लीबे तु जघनं

पुर इत्यमरः। पुनः किंविधं प्राप्तवानीरशाखम् प्राप्ता वानीरवृक्षविशेषाः तेषां शाखा विटपाः येन तत्। किंविधमिव किंचित् करधृतमिव हस्त-धृतमिव। वलिहस्तांशव करा इत्यमरः। तदेवार्थान्तरेणाह—ज्ञातास्वादः अनुभूतास्वादः विपुलजघनां पीवरजघनां स्त्रियं कः विहातुं समर्थः न कोपीत्यर्थः ॥४४॥

अर्थ—हे सखे! गम्भीरा नदी के नीले वर्ण की सलिल रूपी साड़ी के तुम्हारे द्वारा अपहरण किये जानेपर वह तटरूपी जघन स्थल से सलिल साड़ी को खिसकने के कारण हाथों से पकड़े हुई-सी प्रतीत होगी। इस प्रकार वहाँ विलम्बित होनेवाले तुम्हारा गमन कठिनता से होगा क्योंकि स्थूल जंघाओं वाली स्त्री के आस्वाद को अनुभूत करने वाला कौन छोड़ सकता है ॥४४॥

त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसम्पर्करम्यः
स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगं दन्तिभिः पीयमानः।
नीचैर्वास्यत्युपजिगमिषोर्देवपूर्वं गिरिं ते
शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम्॥४५॥

त्वन्निष्यन्देति—वायुः पवनः ते तव नीचैः अधः शनैः वास्यति—अनेन मन्दत्वं कथितम्। किंविधस्य देवपूर्वं गिरिं देवगिरिम्। उपजिग-मिषोः यियासोः सनाशंसभिक्ष उः। किंविधः काननोदुम्बराणा वनयज्ञा-ङ्गानां परिणमयिता पाकं प्रापयिता। परिणमयतीति-ण्वुलतृचाविति तृच्। कर्तृकर्मणोः कृति, इति षष्ठी। उदुम्बरे जन्तुफलो यज्ञाङ्गो हेमदुग्धक इत्यमरः। पुनः किंविधः त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागंधसम्पर्करम्यः तव निष्यन्दः वर्षणं तेन उच्छ्वसिता उच्छ्वासं प्राप्ता या वसुधा वसुमती तस्या गन्धः आमोदः तस्य सम्पर्कः संयोगः तेन रम्यः रमणीयः। अनेन सुगन्धित्वं दर्शितम्। अत एव शीतः शीतलः-अनेन शैत्यं दर्शितम् अतएव परिविशेषणयोज्ञः। पुनः किंविधः दन्तिभिः स्तम्भेरमैः पीयमानः। पा

पाने पीयते इति कर्मणि शानच् । दन्ती दन्तावलो हस्ती द्विरदोऽनेकपो द्विपः इत्यमरः । कथं स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगम् स्रोतसः करिकरस्य रन्ध्रे तत्र ध्वनितं तेन सुभगं रम्यं यथा भवति तथा ॥४५॥

अर्थ—हे मेघ ! तुम्हारे वर्षण से उच्छ्वसित भूमि की सुगन्धि के सम्पर्क में रमणीय हाथियों द्वारा शब्द करते हुए सूँड़ से पान किया जाने वाला, तथा वन के गूलरवृक्षों को पकाने वाला शीतल वायु, देवगिरि की ओर जाते हुए तुम्हारी धीरे से वायु चलाकर सेवा करेगा ॥४५॥

तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान् व्योमगङ्गाजलार्द्रैः ।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूना-
मत्यादित्यं हुतवहमुखे सम्भृतं तद्धि तेजः ॥४६॥

तत्र स्कन्दमिति—तत्र तस्मिन् स्थाने भवान् स्कन्दम् अग्निभवं स्नपयतु स्नपनं करोतु । किंविधं नियतवसतिं नियता वसतिरस्य सः तम् । कैः पुष्पसारैः पुष्पाणि कुसुमान्येव आसारा धारासंपाता तैः । किंविधः पुष्पमेघीकृतात्मा कामरूपत्वात् अपुष्पमेघः पुष्पमेघः कृतः पुष्पमेघीकृतः आत्मा देहो येन सः । आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्मवर्ष्म चेत्यमरः । किंविधैः व्योमगङ्गाजलार्द्रैः भागीरथीसलिलसिक्तैः । तत्र कुत्र हि प्रसिद्धं यत्र तत्तेजः युक्तं हुतवहमुखे वह्निवदने संभृतं विहितम् । केन नवशशिभृता नवो नूतनश्चासौ शशी चन्द्रश्च तं बिभर्ति सः तेन । तेजः प्रभावे दीप्तौ च वले शुक्रेऽप्यतस्त्रिषु, द्विजराजः शशिधरः इत्यमरः । किमर्थं चमूनां रक्षाहेतोः पालननिमित्तात् । वाहिनी पृतना चमू-इत्यमरः । किंविधानां वासवीनां वासवो मघवानस्येमाः वासव्यः तासाम् । किंविधम् अत्यादित्यम् आदित्यं सूर्यमतिक्रान्तमत्यादित्यम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—हे मेघ ! देवगिरि में सर्वदा निवास करने वाले स्वामी कार्तिक के ऊपर अपने को पुष्पमेघ बनाकर फूलों की वर्षा स्नान करा देना। क्योंकि वे इन्द्र की सेनाओं के रक्षा हेतु, नवेन्दुशेखर ने सूर्य से भी अधिक दीप्त तेज को अग्निमुख में स्थापित किया था ॥ ४६ ॥

ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी
पुत्रप्रेम्णा कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति।
धौतापाङ्गं हरशशिरुचा पावकेस्तं मयूरं
पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः ॥ ४७ ॥

ज्योतिरिति—त्वं पश्चात् पावकेरग्निभुवः। तं मयूरं शिखिनं नर्तयेथाः। प्रयोजकव्यापारे णिच्। गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थेत्यनेनाकर्मकत्वस्य नृत्यतेरणौ कर्ता ण्यं तस्य कर्मसंज्ञा।पावकस्याग्नेरपत्यं पावकिः। अत इञ्। कैः गर्जितैः ध्वनितैः किंविधैः, अद्रिग्रहणगुरुभिः, अद्रेः गिरेः ग्रहणमुत्पाटनं तेन गुरूणि तैः। किंविधं धौतापाङ्गं धौतावुज्वलितावापाङ्गौ नेत्रप्रान्तौ यस्य सः। कया हरशशिरुचा शिवचन्द्रदीप्त्या। स कः यस्य बर्हं पिच्छं भवानी शर्वाणी कर्णे श्रवणे कुवलयदलप्रापि करोति विदधाति, उत्पलपत्रम् प्राप्नोतीति प्रापि। शिखा चूड़ा शिखण्डस्तापिच्छ बर्हं नपुंसके। स्यादुत्पलं कुवलयमथ रक्तं सरोरुहम् इत्यमरः। केन पुत्रप्रेम्णा पुत्रस्नेहेन। किंविधम् गलितं पतितम्। पुनः किंविधं ज्योतिर्लेखावलयि ज्योतिषामर्चिषां लेखास्तासां वलयानि तस्मिन् तत् विविधवर्णचन्द्रकविचित्रितम् ॥ ४७ ॥

अर्थ—हे मेघ ! इसके अनन्तर प्रतिध्वनियों सेवर्धित गर्जना से स्कन्द के उस वाहन मयूर को नचा देना जिसके नेत्र शिवशिरस्थितचन्द्र की कान्ति से धौत होते हैं और जिसके स्वेच्छासे गिरे पंख को भवानी पुत्रप्रेमवश कानों में नील कमल की पंखुड़ियों के स्थान में सजा लेती हैं ॥४७॥

आराध्यैनं शरवणभवं देवमुल्लङ्घिताध्वा
सिद्धद्वन्द्वैर्जलकणभयाद्वीणिभिर्मुक्तमार्गः ।
व्यालम्बेथाः सुरभितनयालम्भजां मानयिष्यन्
स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम् ॥४८॥

आराध्येति—हे घन ! त्वं रन्तिदेवस्य कीर्तिं व्यालम्बेथाः आश्रयेथाः । किंविधः, उल्लंघिताध्वा अतिक्रान्तमार्गः । किं कृत्वा शरवणभवं देवं आराध्य निषेव्य । शराणां वनं शरवणमत्र भवतीति सः तम् । त्यदोरप् । पुनः कथंभूतः सिद्धद्वन्द्वैः देवमिथुनैः मुक्तमार्गः त्यक्तवर्त्मा । किंविधैः वीणिभिः वीणा विद्यते येषु तानि तैः, अस्त्यर्थे इन् । तालो वीणा तु वल्लकीत्यमरः । कस्मात् जलकणभयात् जलकणेभ्यो सलिलबिन्दुभ्यो भयंतीति तस्मात् । भीतिर्भीः साध्वसं भयमित्यमरः । किं कुर्वन् रन्तिदेवस्य रन्तिदेवनाम्नो राज्ञः कीर्तिं समाख्यां मानयिष्यन् सभाजयिष्यन् । यशः कीर्तिः समाख्ये चेत्यमरः । कीर्तेरमूर्तत्वात् कथं तदाश्रयणमित्याह—किंविधां स्रोतोमूर्त्या प्रवाहरूपेण भुवि पृथिव्यां परिणतां प्रथितां पुनः किंविधाम् सुरभितनयालम्भजां सुरभेः कामगोस्तनया कन्या तस्याः—आलम्भः यज्ञार्थं प्रतिघातनं तस्मात् जाता ताम् । गोमेधक्रियमाणे तस्याःसौरभेर्देहान्नदीप्रवृत्तेति लोकप्रसिद्धिः ॥४८॥

अर्थ—स्कन्द की आराधना करने के अनन्तर वीणाधारी सिद्ध मिथुनों के द्वारा छोड़े गये मार्ग वाले तुम कुछ दूर जाकर गवालम्भन समुत्पन्न नदी प्रवाहरूप में प्रगट होनेवाली रन्तिदेव की कीर्तिरूपा चर्मण्वती नदी का अभिनन्दन करते हुए उसमें उतर जाना ॥४८॥

त्वय्यादातुं जलमवनते शार्ङ्गिणो वर्णचौरे
तस्याः सिन्धोः पृथुमपि तनुं दूरभावात्प्रवाहम् ।
प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो नूनमावर्ज्य दृष्टी-
रेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम् ॥४९॥

त्वयीति—हे मेघ ! गगनगतयो देवास्तस्याः सिन्धोः सरितः प्रवाहं परिवाहं प्रेक्षिष्यन्ते द्रक्ष्यन्ति। किंविधम् एकं स्थूलमपि दूरभावात् तनु कृशम्। किं कृत्वा दृष्टीर्दृशोर्दूरं विप्रकृष्टम्। आवर्ज्य नमयित्वा। कस्मिन् सति त्वयि भवति जलं शम्बरम्। आदातुं गृहीतुमवनते नम्रे सति। किंविधेः शार्ङ्गिणः कृष्णस्य वर्णचौरे कृष्णत्वतस्करे। वर्णो द्विजादौ शुक्लादौ वर्णस्तु लिखिताक्षर इत्यमरः। किंविधमिव भुवः क्षितेरेकं मुक्तागुणमिव मुक्तादामेव। किंविधं स्थूलमध्येन्द्रनीलम् स्थूलः पृथुमध्येन्द्रनीलो यस्येति सः ॥४९॥

अर्थ—हे मेघ ! कृष्ण कान्तिवाले तुम्हारे जल लेने के लिये नीचे उतरने पर, चौड़ी होने पर भी दूर के कारण पतली दिखाई देनेवाली उस चर्मण्वती के प्रवाह के बीच स्थित तुम्हें देवता लोग निश्चय ही बड़े ध्यान से स्वच्छ जलधारारूपी लड़ी के बीच बड़ी-सी इन्द्रनीलमणि के समान देखेंगे ॥४९॥

तामुत्तीर्य व्रज परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां
पक्ष्मोत्क्षेपादुपरिविलसत्कृष्णसारप्रभाणाम्।
कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषामात्मबिम्बं
पात्रीकुर्वन् दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम् ॥५०॥

तामुत्तीर्येति—तां सिन्धुमुत्तीर्य व्रज गच्छ। किं कुर्वन् अपात्रं पात्रं कुर्वन्निति पात्रीकुर्वन्। दशपुरं नाम नगरम् तत्र वध्वः स्त्रियः तासां नेत्राणि नयनानि तेषां कौतूहलानि कौतुकानि तेषाम्। कौतूहलं कौतुकं च कुतुकं च कुतूहलमित्यमरः। किं विधानां परिचितभ्रूलताविभ्रमाणाम् परिचिता नागरत्वादभ्यस्ता भ्रूलताविभ्रमा भ्रूविलासा येषु तेषाम्। पुनः किंविधानाम् उपरिविलसत्कृष्णसारप्रभाणाम्—उपरि विलसन्त्यः प्रसरन्त्यः स्फुरन्त्यः कृष्णसाराणा मृगाणां प्रभा दीप्तयः इव प्रभा येषु तानि तेषाम्। अथवा उपरि

विलसन्ती प्रसरन्ती कृष्णसारा कृष्णधवला प्रभा येषां तानि तेषाम् कस्मात् पक्ष्मोत्क्षेपात् पक्ष्मणां नेत्रलोम्नामुत्—ऊर्ध्वंक्षेपः क्षेपणं तस्मात् पक्ष्माक्षिलोम्नि किंजल्क इत्यमरः पुनः किंविधानां कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषां कुन्दानां पुष्पविशेषाणां क्षेपः क्षपणं तमनुगच्छन्तो मधुकरा षट्पदास्तेषां श्रीः शोभा तां मुष्णन्ति रोचन्ति तानि तेषाम् ॥५०॥

अर्थ—हे मेघ ! उस चर्मण्वती नदी को पार कर भ्रूविलास से परिचित, अपनी पलकों को ऊपर की ओर उठाकर श्वेत श्याम प्रभा को ऊपर की ओर बिखेरनेवाली तथा कुन्द के पुष्प का अनुसरण करनेवाले भ्रमरों की शोभा को चुरानेवाली दशपुर की वधुओं के नेत्र कौतूहल का अपने विम्बको पात्र बनाते हुए गमन करना ॥ ५० ॥

ब्रह्मावर्तं जनपदमथच्छायया गाहमानः
क्षेत्रं क्षत्रप्रधनपिशुनं कौरवं तद्भजेथाः ।
राजन्यानां शितशरशतैर्यत्र गाण्डीवधन्वा
धारापातैस्त्वमिव कमलान्यभ्यवर्षन्मुखानि ॥५१॥

ब्रह्मावर्तमिति—हे मेघ ! त्वं तत्कौरवं कुरूणामिदं कौरवं देवतेदमर्थे इत्यण् । क्षेत्रं स्थानं कुरुक्षेत्रं भजेथाः सेवेथाः आश्रयेथाः । किंविधं क्षत्रप्रधनपिशुनं क्षत्रं जातिः तस्य प्रधनं युद्धं तस्य पिशुनं सूचकम् । युद्धमायोधनं जन्यं प्रधनं प्रविदारणम् । किंविधः ब्रह्मावर्तं ब्रह्मावर्ताभिधं जनपदं देशम् । अधः नीचैः छायया-अनातपेन गाहमानः व्याप्नुवन् । तत्किम् यत्र क्षेत्रे गाण्डीवधन्वा गाण्डीवं धनुरस्येति सः अर्जुनः । शितशरशतैः शितास्तीक्ष्णाः शराः बाणास्तेषां शतानि तैः । धारापातैः कमलानि सहस्रपत्राणि त्वमिव भवानिव । मूर्धाभिषिक्तो राजन्यो बहवः क्षत्रियो विराट् । आननं लपनं पुंसि–इत्यमरः ॥ ५१ ॥

अर्थ—हे मेघ ! इसके अनन्तर ब्रह्मावर्त नामक देशको अपनी छाया से अवगाहित करते हुये, महाभारत युद्ध के सूचक कुरुक्षेत्र में

उपस्थित होना, जहाँ अर्जुन ने विपक्षी राजाओं के ऊपर तुम्हारे द्वारा कमलवनों पर की गई वर्षा के समान बाणों की वर्षा की थी ॥५१॥

हित्वा हालामभिमतरसां रेवतीलोचनाङ्कां
बन्धुप्रीत्या समरविमुखो लाङ्गली याः सिषेवे ।
कृत्वा तासामभिगममपां सौम्य सारस्वतीना-
मन्तःशुद्धस्त्वमपि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः ॥५२॥

हित्वेति—हे सौम्य सुन्दर त्वमपि । अन्तःशुद्धः अन्तःनिर्मलो भविता भविष्यसि । ण्वुंल्तृचाविति तृच् । सौम्यं सुन्दरं सोमदैवते इत्यमरः । वर्णमात्रेण वर्णेनैव कृष्णः । अल्पे च परिमाणे मात्रं कार्त्स्न्येऽव-धारणे इत्यवधारणे मात्रशब्दप्रयोगः । किं कृत्वा सारस्वतीनामपां वारिणामभिगमं सम्बन्धं कृत्वा । सरस्वत्याः इमाः सारस्वत्याः तासा-मपाम् ताः काः याः लाङ्गली बलभद्रः सिषेवे भेजे । किं कृत्वा हालां सुरां हित्वा । किंविधाम् अभिमतरसामभीष्टरसाम् । पुनः किंविधां रेवतीलोचनाङ्कां रेवती वलप्रिया तस्या लोचने तारको लांछनं यस्या सा ताम् । किंविधः समरविमुखः रणपराङ्मुखः । कया बन्धुप्रीत्या सुहृद्-प्रेम्णा ॥५२॥

अर्थ—बन्धु प्रेम के कारण युद्ध से विमुख होकर बलराम ने अभीष्ट स्वाद वाली रेवती के नेत्रों से लांछित मदिरा को त्याग कर जिस सरस्वती नदी के जल का पान किया था उसी सरस्वती के जल को पीकर शरीर से श्याम रहते हुये भी तुम शुद्ध अन्तःकरण वाले हो जाओगे ॥५२॥

तस्माद्गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णां
जह्नोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिम् ।
गौरीवक्त्रभ्रुकुटिरचनां या विहस्येव फेनैः
शंभोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता ॥५३॥

तस्मादिति—त्वं तस्मात् सरस्वतीतीरात् जह्नोः कन्यां दुहितरं गच्छेः व्रजेः। किंविधाम्—अनुकनखलं कनजलतीर्थमनु लक्षीकृत्य—अथवा कनखलतीर्थस्य समीपे शैलराजावतीर्णां गिरेः निर्गताम्। पुनः किंविधां सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिम्। सगरतनयाः पुत्राः तेषां स्वर्गो नाकः तत्र सोपानपङ्क्तिस्ताम्। सा का या शम्भोः शिवस्य केशग्रहणं कुन्तलादानकमकरोत् अकार्षीत्। चिकुरः कुन्तलो वालः कचकेशः शिरोरुहः। किं कृत्वा गौरीवक्त्रभ्रकुटिरचनां गौर्याः भवान्याः वक्त्रं वदनं तस्य भृकुटी तयोर्विकाराः तासाम् रचना परम्परा ताम्। विहस्येव कैः फेनैः डिंडीरैः। डिंडीरोऽधिकफेन इत्यमरः। किंविधा—इन्दुलग्नोर्मिहस्ता, इन्दोश्चन्द्रस्य लग्नाः ऊर्मयः तरंगा एव हस्तौ पाणी यस्याः इति ॥५३॥

अर्थ—उस कुरुक्षेत्र से आगे जाकर, कनखल के समीप हिमालय से अवतरित होती हुई सगर के पुत्रों के लिये स्वर्गसोपानों के समान जह्नुपुत्री गङ्गा के समीप जाना। जो पार्वती के भ्रकुटि रचना को फेन के व्याज से हँसती-सी हुई तरङ्गरूपी हाथों से चन्द्र का सहारा लेकर शिव के केशों को ग्रहण करती है ॥५३॥

तस्याः पातुं सुरगज इव व्योमि पूर्वार्धलम्बी
त्वं चेदच्छस्फटिकविशदं तर्कयेस्तिर्यगम्भः।
संसर्पन्त्या सपदि भवतः स्रोतसिच्छाययाऽसौ
स्यादस्थानोपगतयमुनासङ्गमेवाभिरामा ॥५४॥

तस्या इति—त्वं तस्याः भागीरथ्याः अम्भः पयः पातुं तिर्यग् तिरश्चीनः सन् चेत् तर्कयेः अभिलाषं कुर्याः। किंविधायाः संसर्पन्त्या गच्छन्त्याः। किंविधस्त्वम् व्योम्नि पूर्वार्धलम्बी क इव सुरगज इव—अमरदन्तीव। किंविधमम्भः अच्छस्फटिकविशदम्, अच्छं च तत् स्फटिकं तद्वद् विशदमवदातम्—कर्मधारयः। तदा सा जाह्नवी सपदि भवतश्छायया प्रतिबिम्बेन स्रोतसि प्रवाहे। अभिरामा सुन्दरा स्यात्।

स्रोतः प्रवहः निम्नगा इत्यमरः । किंविधः अस्थानोपगतयमुनासंगम-इव अस्थाने संगमव्यतिरिक्तस्थले-उपगतः प्राप्तः यमुनासंगमः यस्या इति ॥ ५४ ॥

अर्थ—आकाश में आगे की ओर झुककर पानी पीते हुये सुरगज के समान तिरछे झुककर गङ्गा के स्वच्छ स्फटिक के समान निर्मल जल को पीने के लिए जब इच्छा करोगे उस समय गङ्गा की धारा में प्रतिबिम्बित होती हुई तुम्हारी छाया से प्रयाग के अतिरिक्त गङ्गा यमुना के संगम के समान सुन्दरता प्रतीत होगी ॥५४॥

आसीनानां सुरभितशिलं नाभिगन्धैर्मृगाणां
तस्या एव प्रभवमचलं प्राप्य गौरं तुषारैः ।
वक्ष्यस्यध्वश्रमविनयने तस्य शृङ्गे निषण्णः
शोभां शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम् ॥५५॥

आसीनानामिति—त्वं शुभ्रत्रिनयनवृषोखातपंकोपमेयां शुभ्रो विशदश्चासौ त्रिनयनवृषः शम्भुवलीवर्दः तेन उत्खातश्चासौ पंकः कर्दमश्च तेनोपमेयां शोभां वक्ष्यसि वोढासि धारयिष्यसि । किंविधः तस्य हिमाद्रेः शृङ्गे शिखरे निषण्णः स्थितः । किंविधे शृङ्गे अध्वश्रमविनयने मार्गखेदापनोदिते । किं कृत्वा वक्ष्यसि तस्याः गंगायाः एव प्रभवमुत्पत्तिहेतुमचलम्, पर्वतं प्राप्य आसाद्य । किंविधैः तुषारैः तुहिनैः गौरं धवलं । पुनः किंविधम् मृगाणां कृष्णसाराणां नाभिगन्धैः सुरभितशिलं सुगन्धितदृषद् । किंविधानाम्-आसीनानामुपविष्टानाम्, आसते इति आसीनाः तेषाम्, आसूपवेशने, लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे इत्यनेन शानच् शिस्वाच्छबादिः ॥५५॥

अर्थ—बैठे हुये कस्तूरी मृगों से सुगन्धित शिलाओं से युक्त गङ्गा के उद्गम बर्फ से शुक्ल हिमालय के ऊपर पहुँचकर मार्ग के परिश्रम को

दूर करने के हेतु चोटीपर बैठे हुये तुम भगवान् शिव के वाहन नन्दी की सींग में लगे हुये कीचड़ की शोभा को प्राप्त करोगे ॥५५॥

तं चेद्वायौ सरति सरलस्कन्धसंघट्टजन्मा
बाधेतोल्काक्षपितचमरीबालभारो दवाग्निः ।
अर्हस्येनं शमयितुमलं वारिधारासहस्रै-
रापन्नार्तिप्रशमनफलाः संपदो ह्युत्तमानाम् ॥५६॥

त्वं चेदिति—अयं दावाग्निः दावानलः तं हिमाचलं चेद्बाधेत् पीड़येत् । दवदावौ चारण्यवह्नौ । दावाग्नि त्वमलमतिशयेन शमयितुमर्हसि समर्थो भवसि । एनं पर्वतं शमयितुं सुखयितुमर्हसि । तं चेत्यनेनोक्तिः एनमिति प्रयुक्तिः, उक्तस्य पुनरुक्तिः एनादेशः इत्युक्तवान् शेषं समानम् । कैः वारिधारासहस्रैः सलिलासारसहस्रैः । किंविधः सरलस्कन्धसंघट्टजन्मा सरलाः ऋजवश्च ते स्कन्धाः प्रकाण्डाः तेषां संघट्टः संयोगः तस्मात् जन्म यस्येति । अस्त्री प्रकाण्डस्कन्धः स्यादित्यमरः । कस्मिन् सति वायौ गन्धवहे वहति सति पुनः कथंभूतः उल्काक्षपितचमरीबालभारः उल्काभिः स्फुलिङ्गैः क्षपितः नाशितः चामरीणां वनगवां बालभारो लाङ्गूलसमूहो येन सः । पूर्वार्थं दृढयत्यर्थान्तरेण—हि निश्चितं उत्तमानां श्रेष्ठानां सम्पदः सम्पत्तयः । आपन्नार्तिप्रशमनफलाः आपन्नानामार्तानामार्तिप्रशमनमापन्निवारणमेव फलं प्रयोजनं यासां ताः ॥५६॥

अथ—तेज वायु के चलने पर चीड़ के वृक्षों के परस्पर घर्षण से उत्पन्न, उल्काओं से चमरी नामक गायों के पुच्छबालों को जलानेवाली दावाग्नि, यदि हिमालय पर्वत को पीड़ित करे, तो तुम सहस्रों जलधाराओं से उस दावाग्नि को अच्छी प्रकार से बुझा देना । क्योंकि श्रेष्ठ पुरुषों की सम्पत्ति विपत्तिग्रस्त प्राणियों के क्लेश को दूर करने के लिये होती है ॥५६॥

ये सरम्भोत्पतनरभसाः स्वाङ्गभङ्गाय तस्मिन्
मुक्ताध्वानं सपदि शरभा लङ्घयेयुर्भवन्तम् ।
तान् कुर्वीथास्तुमुलकरकावृष्टिपातावकीर्णान्
के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः ॥५७॥

ये सरम्भेति—तस्मिन् हिमाचले शरभाः सिंहादिकाः केचन प्राणिनः भवन्तं लंघयेयुः अतिक्रमेयुः ते हि शरभाः घनध्वनिश्रवणे पराधिक्यमसहमानाः घनं घर्षयितुमुत्पतन्तीति लोकप्रसिद्धिः । किंविधम्—मुक्ताध्वानं त्यक्तमार्गम् । किंविधाः स्वाङ्गभंगाय स्वकुलोन्मूलनाय । संरंभोत्पतनरभसाः संरंभेण आटोपेनोत्पतनमुद्गवनं तस्मिन् रभसाः चंचलाः उत्सुकाः वा तान् शलभान् तुमुलकरकावृष्टिहासावकीर्णान् तुमुलाः उल्वणा चासौ करकावृष्टिश्च सैव हासा हसनं तेनावकीर्णाः आच्छादिताः तान् कुर्वीथाः विदधीथाः । वर्षोत्पलस्तु करका मेघाच्छन्नेऽह्नि दुर्दिनम् इत्यमरः । पूर्वार्थमर्थान्तरेण दर्शयति--निष्फलारम्भयत्नाः फलरहितारम्भाः यत्नः उपक्रमः प्रयत्नो येषां ते । परिभवपदं पराजयस्थानं के वा न स्युः न भवेयुः अपितु सर्वे भवन्ति । वा उपमान इति ॥५७॥

अर्थ—उस हिमालय पर्वत में, क्रोध से उछलनेवाले सरभ, मार्ग को छोड़कर चलनेवाले, तुम्हारा यदि अपना अङ्ग भङ्ग मात्र करने के लिये उल्लंघन करें तो लगातार ओले बरसा कर उन्हें अस्तव्यस्त कर देना । क्योंकि व्यर्थ का कार्य करने वाले कौन व्यक्ति तिरस्कृत नहीं होते ॥५७॥

तत्र व्यक्तं दृषदि चरणन्यासमर्धेन्दुमौलेः
शश्वत्सिद्धैरुपचितवलिं भक्तिनम्रः परीयाः ।
यस्मिन् दृष्टे करणविगमादूर्ध्वमुद्धूतपापाः
संकल्पन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्दधानाः ॥५८॥

तत्र व्यक्तमिति—तत्र तस्मिन् पवते अर्धेन्दुमौलेः अर्धोऽसम्पूर्णश्चासाविन्दुश्च स मौलौ किरीटे यस्य शिवस्य तस्य । चरणन्यासम् परीयाः

परिलक्षीकृत्य इति गच्छेः प्रदक्षिणीकुर्याः प्रदक्षिणीकृत्य नमस्कुर्या इत्यर्थः। किंविधं दृषदि शिलायां व्यक्तं स्पष्टं। पुनः किंविधम् सिद्धैः गुह्यकैः शश्वत् असकृत् उपहृतवलिम्। उप समीपे इत्यमरः। किंविधः भक्तिनम्रः भक्त्या भजनेन नम्रः नमनशीलः। नमिकम्पि इत्यादिना रः। स कः यस्मिन् दृष्टे प्रेक्षिते श्रद्धधाना श्रद्धावन्तः। स्थिरगणपद-प्राप्तये स्थिरं ध्रुवं च तत् गणपदप्रथमस्थानं च तस्य प्राप्तिः लब्धिः तस्यै संकल्पन्ते सम्पद्यन्ते ॥५८॥

अर्थ—उस हिमालयमें पाषाण पर स्पष्ट रूप से चिह्नित निरन्तर सिद्ध जनों से पूजित भगवान् शिव के चरण चिह्नों की भक्ति भाव से विनम्र होकर प्रदक्षिणा कर लेना। जिनके दर्शन से पाप विमुक्त होकर श्रद्धालु व्यक्ति शरीर त्याग के अनन्तर गणपद प्राप्त करने में समर्थ हो जाते हैं ॥५८॥

शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः,
संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयी गीयते किन्नरीभिः।
निर्ह्रादस्ते मुरज इव चेत्कन्दरेषु ध्वनिः स्यात्,
संगीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः ॥५९॥

शब्दायन्त इति—नन्वामन्त्रणे हे घन ते तव ध्वनिः शब्दः कन्दरेषु चेत् वनिताप्रतिशब्दयुक्तो भवेत्। दरी तु कन्दरो वास्त्री इत्यमरः। मुरज इव मृदंग इव। मुरजध्वनिः मुरज इत्यभिधीयत उपचारात्। तदा पशुपतेः संगीतार्थः गीतनृत्यवाद्याख्यः समग्रः सम्पूर्णः भावि भविष्यति। ग्रहादित्वाण्णिनिः। तस्मिन् पर्वते विशेषवंशवादनं च सिद्धमेव इत्याह तत्र तस्मिन् पर्वतेऽचले कीचकाः वेणवः शब्दायन्ते शब्दं कुर्वन्ति। शब्दवैरकलहाभ्रमेघेभ्यः करणे—इत्यनेन क्यङ्। वेणवः कीचकास्ते तु स्वनन्ति ह्यनिलोद्धताः। कथं शब्दायन्ते मधुरं मधुरप्रियं यथा भवति तथा। किंविधाः अनिलैः पवनैः पूर्यमाणाः। किन्नरीभिः

किन्नराङ्गनाभिः । त्रिपुरविजयः त्रिपुराणां विजयः । गै शब्दे कर्मणि यः । किंविधाभिः संसक्ताभिः मधुरस्वनाभिः इति गानदर्शितः । ईश्वरः प्रदोषे नृत्यतीति सिद्धमेव तव ध्वनिः मुरज इव कन्दरेषु निर्ह्रादिश्चेत् स्यात् तदा शम्भोः संगीतार्थः समग्रो भावीत्यनेन वाद्यमिति चतुर्विधः संगीतार्थः सम्पत्स्यत इति भावः ।।५९।।

अर्थ—वहाँ वायु से पूरित छिद्र वाले बाँस के वृक्ष मधुर शब्द करते हैं और उस ध्वनि से मिलाकर किन्नरियाँ शिव के त्रिपुर विजय सम्बन्धी गीत गाती हैं। इसी समय पर्वत कन्दराओं में तुम्हारी भी मृदङ्ग के समान गर्जना हो जाय तो पशुपति शिव के संगीत की समग्रता निश्चय ही पूर्ण हो जाय ।।५९।।

प्रालेयाद्रेरुपतटमतिक्रम्य तांस्तान्विशेषान्
हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत्क्रौञ्चरन्ध्रम् ।
तेनोदीचीं दिशमनुसरेस्तिर्यगायामशोभी
श्यामः पादो बलिनियमनाभ्युद्यतस्येव विष्णोः ।।६०।।

प्रालेयाद्रेरिति—तेन उदीचीमुत्तरां दिशं ककुभमनुसरेरनुगच्छेः । लक्ष्यीकृत्य सरेः गच्छेः । अनुर्लक्षण इति द्वितीया । तत् किं यत् क्रौञ्चरन्ध्रं क्रौञ्चाख्यस्य नगस्य रन्ध्रं छिद्रं । किंविधं भृगुपतियशोवर्त्म भृगुपतेः जामदग्न्यस्य यशो कीर्तिर्वर्त्म मार्गः । परशुरामेण शरेण क्रौञ्चो भिन्न इति श्रूयते । पुनः किंविधम् हंसद्वारं नाम—अथवा किंविधं हंसानां मरालानां द्वारं हंसाः मानसं सरः तेन द्वारेण गच्छन्तीत्यभिप्रायः । किं कृत्वा प्रालेयाद्रेः हिमाद्रेः उपतटं तटस्य समीपमुपतटमव्ययम् । प्रालेयाद्रेस्तान् तान् पूर्वोक्तान् विशेषानतिक्रम्यातिवाह्य । किंविधः तिर्यगायामशोभी तिर्यग् चासावायामः तेन शोभी । दैर्घ्यमायाममारोहः परिणाहो विशाल इत्यमरः । क इव विष्णोः वामनस्य त्रिविक्रमस्य पादश्चरण इव । किंविधस्य बलिनियमनाभ्युद्यतस्य बलिनाम्नो दैत्यस्य

नियमने बन्धने अभ्युद्यतस्य प्रवृत्तस्य। किंविधः श्यामः कृष्णः वन-पादयोर्विशेषणम् ॥६०॥

अर्थ—हिमालय पर्वत के समीपस्थ उन दर्शनीय स्थलों को पार कर, परशुराम के यशोमार्ग, हंसों के मानस द्वार क्रौञ्चरन्ध्र से तिरछे लम्बायमान होने के कारण सुशोभित, वलि के नियमनार्थ उद्यत वामन के चरण के समान उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान करना ॥६०॥

गत्वा चोर्ध्वं दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसन्धेः
कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथिः स्याः।
शृङ्गोच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः खं
राशीभूतः प्रतिदिशमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः ॥६१॥

गत्वे चेति—त्वं तस्य कैलासस्य अतिथिः आवेशिकः स्याः भवेः। आवेशिक आगन्तुरर्थी नाम गृहागत इत्यमरः। किंविधस्य, त्रिदशवनितादर्पणस्य देवस्त्रीमुकुरस्य स्वच्छत्वात्। दर्पणो मुकुरादर्शावित्यमरः। च समुच्चये। किं कृत्वा ऊर्ध्वमुच्चैः गत्वा। पुनः किंविधस्य दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसंधेः—दशाननबाहुभिः उच्छ्वासिताः उच्छ्वासं प्रापिताः प्रस्थसंधयो सानुसंधयो यस्य तस्य। प्रस्थः सानुरस्त्रियाम्। सः, कः, यः, खं गगनं वितत्य प्राप्य स्थितः। कैः, श्रृङ्गोच्छ्रायैः शिखरोत्सेधैः। किंविधैः, कुमुदविशदैः, कुमुदवद् गौरैः। क इव त्र्यम्बकस्य त्रिपुरारेः। प्रतिदिशं, दिशं दिशं प्रति, प्रतिदिशं वीप्सायामव्ययीभावः। राशीभूतः पुंजीभूतः। अट्टहास इव ॥६१॥

अर्थ—इसके अनन्तर ऊपर की ओर जाकर, रावण की भुजाओं द्वारा हिलाई गई सन्धियों वाले देवाङ्गनाओं के दर्पणभूत कैलास पर्वत का अतिथि होना। जो अपनी स्वच्छ ऊँची चोटियों द्वारा फैलकर, प्रतिदिन एकत्रित होनेवाले शिव के हास के जैसा आकाश तक शोभित है ॥६१॥

उत्पश्यामि त्वयि तटगते स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे
सद्यः कृत्तद्विरददशनच्छेदगौरस्य तस्य।
शोभामद्रेः स्तिमितनयनप्रेक्षणीयां भवित्री-
मंसन्यस्ते सति हलभृतो मेचके वाससीव ॥६२॥

उत्पश्यामीति—तस्य कैलासस्य अद्रेः गिरेः शोभाम्, कामिव, हलभृत इव सीरपाणेरिव भवित्री, भविष्यती भवित्री। तां, उत्पश्यामि। उत्प्रेक्षते—किंविधाम्; स्तिमितनयनप्रेक्षणीयाम् अलोललोचनावलोकनीयाम्। कस्मिन् सति त्वयि भवति तटगते सति, श्रृंगप्राप्ते सति। किंविधे—स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे, स्निग्धेन तैलेन भिन्नम् मर्दितम् यत् अञ्जनम् तद्वत् आभा शोभा यशः यस्य तस्मिन्। बलपक्षे—मेचके नीलवाससी वसने अंसे स्कन्धे निहिते सति। स्कन्धो भुज शिरोऽसोऽस्त्री संधिस्तस्यैव जत्त्रुणीत्यमरः। उभयोर्विशेषणम्—सद्यः कृत्तद्विरददशनच्छेदगौरस्य, सद्यः। सपदि कृत्तः कर्तितश्चासौ द्विरददशनो दन्तिदन्तश्च तस्यच्छेदः खण्डः भागः तद्वद् गौरः धवलः तस्येति ॥६२॥

अर्थ—चिकने घुटे हुए काजल के समान कान्ति वाले तुम्हारे, तत्काल काटे गये हाथी दाँत के समान शुक्ल उस कैलास के तट पर उपस्थित होने पर, मैं अनुमान करता हूँ कि बलराम के कंधे पर स्थापित नीले वस्त्र के समान एकटक देखने योग्य उस पर्वत की शोभा होगी ॥६२॥

हित्वा तस्मिन् भुजगवलयं शम्भुना दत्तहस्ता,
क्रीडाशैले यदि च विचरेत्पादचारेण गौरी।
भङ्गीभक्त्या विरचितवपुः स्तम्भितान्तर्जलौघः,
सोपानत्वं कुरु मणितटारोहणायाग्रयायी ॥६३॥

हित्वेति—यदि चेद् यदा गौरी भवानी तस्मिन् क्रीडाशैले, शिलाचले कैलासाख्ये। पादचारेण चरणचारेण विचरेत्। तदा त्वम्

सोपानत्वं कुरु, निःश्रेणित्वं विधेहि । किं कृत्वा हित्वा त्यक्त्वा । अहिकंकणात् मा भैषीः इति अहिवलयं हेतुः । किंविधस्त्वम्—अग्रयायी अग्रेसरः अग्रे याति गच्छति, इति अग्रयायी नन्दिग्रहीत्यादिना अच् । सोपानत्वम् करणविशेषणाभ्यां दर्शयति—भंगीभक्त्या—छेदनया । विरचित-वपुः कृततनुः । किंविधः, त्वम्, स्तंभितान्तर्जलौघः, सलिलसंघः येन सः ॥६३॥

अर्थ—उस क्रीड़ा पर्वत पर सर्प कंकण को छोड़ शिव के हाथों का अवलम्बन लिये हुए पार्वती, यदि पैदल ही भ्रमण कर रही हों तो अपने अन्तर में ही जल को रोककर, अग्रगामी हो तरङ्ग के समान अपने को बनाकर, मणिमय तटों में आरोहण करने के लिये सोपान का कार्य करना ॥६३॥

तत्रावश्यं वलयकुलिशोद्घट्टनोद्गीर्णतोयं
नेष्यन्ति त्वां सुरयुवतयो यन्त्रधारागृहत्वम् ।
ताभ्यो मोक्षस्तव यदि सखे घर्मलब्धस्य न स्यात्,
क्रीड़ालोलाः श्रवणपरुषैर्गर्जितैर्भीषयेस्ताः ॥६४॥

यत्रावश्यमिति—तत्र तस्मिन् नगे । सुरयुवतयः देवतरुण्यः । त्वां भवन्तम् । यन्त्रधारागृहत्वम् धारागृहस्य भावः तत्त्वम् । अचले अवश्यम् निश्चितम् नेष्यन्ति, नेतारः । अकथितं चेति द्विकर्मकधातुयोगे कर्मद्वयम् । किंविधम् धारागृहत्वम्—वलयकुलिशोद्घट्टनोद्गीर्णतोयम् कुलिशस्य रत्नविशेषस्य कंकणस्थस्येत्यर्थः उद्घट्टनेन संनिहितघर्षणेन उद्गीर्णम् प्रवहितम् तोयम् सलिलम् तम् । भो सखे सुहृद् ! यदि भवतः । ताभ्यो देवाङ्गनाभ्यो । मोक्षः मोक्षणम् । न स्यात् न भवेत् । तदा ताः सुरयुवतीः । भीषयेः गर्जयेः । किंविधैः श्रवणपरुषैः निष्ठुरैः । परुषंग्राम्यमित्यमरः । किंविधाः क्रीडालोलाः केलिचंचलाः । कथंभूतस्य घर्मलब्धस्य निदाघप्राप्तस्येति ॥६४॥

अर्थ—वहाँ क्रीडाशैल में देवाङ्गनायें कंकणके अग्रभाग के संघर्ष से जल बहा कर तुम्हें निश्चय ही फुहारों का स्नानागार बना लेंगी। ग्रीष्मऋतु के कारण यदि हे सखे! उनसे छुटकारा न प्राप्त कर सको तो कर्णकटु गर्जन से उन क्रीडा में चंचल सुरयुवतियों को डरा देना ॥६४॥

हेमाम्भोजप्रसवि सलिलं मानसस्याददानः,
कुर्वन् कामं क्षणमुखपटप्रीतिमैरावतस्य।
धुन्वन् कल्पद्रुमकिसलयान्यंशुकानीव वातै-
र्नानाचेष्टैर्जलदललितैर्निर्विशेस्तं नगेन्द्रम् ॥६५॥

हेमाम्भोजमिति—हे जलद! त्वम् भवान् तं नगेन्द्रम् पर्वतम्। निर्विशेः प्रविशेः। तमेव दर्शयति किं कुर्वाणः मानसस्य मानसाख्यसरसः सलिलं पयः आददानः गृह्णन्। आङ्गोदोनास्य विहरणे इत्यात्मनेपदम्। कामम् यथेष्टम्। किंविधम् हेमाम्भोजप्रसवि हेम्नः सुवर्णस्य अम्भोजानि तेषां प्रसवः उत्पादो यस्मिन् तत्। स्यादुत्पलं फले पुष्पे प्रसवो गर्भमोचनः। किं कुर्वन् ऐरावतस्य इन्द्रगजस्य। क्षणमुखपटप्रीतिम् मुहूर्तम् द्वादशविभागम् वदनचैलहर्षं कुर्वन्। कैः वातैः वायुभिः। कल्पद्रुमकिसलयानि कल्पवृक्षपल्लवानि। धुन्वन्-कम्पयन्। पल्लवोऽस्त्रीविलासनमित्यमरः। कानीव अंशुकानीव वसनानीव च। किंविधैः नानाचेष्टैः। पुनः किंविधैः ललितैः रम्यैः। वैविध्यमुक्तम्, भवति ॥६५॥

अर्थ—हे जलद! स्वर्ण कमलों के उत्पादक मानसरोवर के जल का पान करते हुये, ऐरावत के मुख पर क्षण भर के लिये झीने वस्त्र से छाकर, कल्पवृक्ष के नव कोमल पल्लवों को पतले वस्त्र जैसा मेघ वायु से हिलाते हुये, विभिन्न प्रकार की ललित क्रीड़ाओं के साथ उस पर्वतराज हिमालयमें इच्छानुसार विहरना ॥ ६५॥

तस्योत्संगे प्रणयिन इव स्रस्तगङ्गा-दुकूलां
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन् ।
या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम् ॥६६॥

तस्योत्संग इति—हे कामचारिन् इच्छागामिन् ! त्वम् तस्य शैलोत्संगे अंके तां प्रसिद्धाम् अलकाम् अलकाख्याम् नगरीम् । दृष्ट्वा प्रेक्ष्य न पुनर्ज्ञास्यसे न वेत्स्यसि, इति न अपि तु ज्ञास्यसे एव । प्रियतमस्येव । किंविधाम् स्रस्तगंगादुकूलाम् स्रस्तं गंगा मंदाकिनीव दुकूलम् क्षौम्यम् यस्याः सा तां । सा का या वः युष्माकम् काले समये, प्रावृट्काल इत्यर्थः । अभ्रवृन्दम् मेघसंहतिः । उच्चैः महद्भिः विमानैः वहति । किंविधं सलिलोद्गारम् सलिलस्य अम्भसः उद्गारः वर्षणम् यस्य तत् । किमिव कामिनीव पुंश्चलीव । अलकम् केशमिव किंविधम् मुक्ताजालग्रथितम् मौक्तिकसमूहग्रथितम् ॥६६॥

अर्थ—उस प्रियतम हिमालय पर्वत की गोद में आसीन खिसकी हुई गंगा नदीरूप श्वेत साड़ी वाली अलकापुरी को देखकर, हे स्वेच्छया विहार करने वाले मेघ ! तुम उसे क्या न जान सकोगे ? जो ऊँची अट्टालिकाओं वाली अलकापुरी वर्षाकाल में, जलवृष्टि करने वाले मेघ-समुदाय को मोतियों की माला से गुथी हुई अलकों वाली कामिनी के समान धारण करती है ॥६६॥

उत्तर मेघ

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीर-घोषम् ।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥६६॥

विद्युत्वन्तमिति—यत्र यस्यां नगर्याम् । प्रासादाः दैवभूमयः गृहाः । तैः प्रसिद्धैर्विशेषणैः भवन्तं तुलयितुम्, अलम् समर्थाः । किंविधम् विद्युत्वन्तम् तडित्वन्तम् । डित्वम् तडिदादिभ्यश्चेति । किंविधाः ललित-वनिताः ललिताः सुन्दराः वनिताः योषितः येषु ते । किंविधम् सेन्द्र-चापम् इन्द्रचापेन सह वर्तमानम् । किंविधाः सचित्राः चित्रेण सह वर्तमानाः आलेख्येन सह वर्तमानाः आलेख्याश्चर्मणोश्चित्रमित्यमरः । पुनः किंविधम् स्निग्धगम्भीरघोषम् अपरुषस्वनम् । किंविधाः संगीताय संगीतार्थं प्रहतमुरजाः मृदङ्गाः यत्र तैः । तादर्थ्ये चतुर्थी । पुनः किंविधम् अन्तस्तोयम् अन्तर्मध्ये तोयम् पानीयम् यत्र सः तम् । किंविधाः मणिमयभुवः मणिमयाः रत्नप्रचुराः । भुवो भूमयो यत्र । प्राचुर्ये मयट् पुंवद्वा । किंविधं तुङ्गं उच्चैस्तरम् । कैर्विशिष्टाः—अभ्रंलिहाग्राः गगन-स्पृक्प्रान्ताः । वहाभ्रे लिह इति खश् प्रत्ययः खित्यनव्ययस्येति मुम् पूर्वपदस्य ॥६७॥

अर्थ—बिजली से युक्त तुम्हारी समता सुन्दर रमणियों के द्वारा, इन्द्रचाप से युक्त तुम्हारी समता विभिन्न चित्रों के द्वारा, मधुरगम्भीर गर्जन की संगीत के लिये बजाये गये मृदङ्ग द्वारा, सलिलयुक्त तुम्हारी मणिमय भूमि द्वारा, ऊँचाई की उन्नत प्रासादों द्वारा, अलकापुरी तुम्हारी समता करने में पूर्ण समर्थ है ॥६७॥

शिष्यश्यामाः दिनकरहयस्पर्धिनो यत्रवाहाः,
शैलोद्ग्राः प्रभेदात्भवदिवसततं वृष्टिमन्तः करीन्द्राः।
यत्रायोधाग्रगण्यः प्रति हि दशमुखं संयुगे तस्थिवांसः,
प्रत्यादिष्टाभरणरुचयः चन्द्रहासव्रणाङ्कैः ॥६८॥

शिष्यश्यामेति—यत्र यस्यां नगर्याम् वाहाः वाजिनः दिनकरहयस्पर्धिनः, दिनकरस्य सूर्यस्य हयास्तुरङ्गाः तैः स्पर्धिनः इति दिनकरहयस्पर्धिनः। वाजिर्वाहश्च गंधश्च सैन्धवः सप्तिरित्यमरः। किंविधाः शिष्यश्यामाः बालतृणनिभाः। क इव भवानिव त्वमिव, अर्थवशात् विभक्तिपरिणामत्वम् वृष्टिमान् शैलोद्ग्रहश्च तैः करिणः कथं वृष्टिमन्तः प्रभेदात्। यौवनान्ते सप्तधा प्रभिद्यत इति लोकप्रसिद्धिः। यत्र योधाग्रगण्यः योध्यमुखाः। संयुगे आहवे दशमुखं रावणम् प्रतस्थिवान्सः तस्थुः। क्वसुश्चेति लिटः क्वसुः। किंविधाः प्रत्यादिष्टाभरणरुचयः। प्रत्यादिष्टो निराकृता आभरणरुचयो विभूषणकान्तयो येषाम् ते। कैः चन्द्रहासव्रणाङ्कैः असिव्रणचिह्नैः ॥६८॥

अर्थ—जिस नगरी में कोमलतृण के समान हरित घोड़े सूर्य के अश्वों की ईर्ष्या करते हैं। तुम्हारे समान वर्षणशील दानवारि वहाने वाले हाथी पर्वतों के समान ऊँचे हैं। चन्द्रहास के व्रणों से आभूषणोंकी कान्ति को तिरस्कृत करने वाले जिस नगरी के प्रधान योधा युद्ध में रावण की प्रतिद्वन्दिता करते हैं ॥६८॥

हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धं
नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामाननश्रीः।
चूडापाशे नवकुरवकं चारुकर्णे शिरीषं
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम् ॥६९॥

हस्ते लीलेति—यत्र यस्यां नगर्याम् वधूनाम् स्त्रीणाम् हस्ते करे लीलाकमलम् क्रीडार्थं सहस्रपत्रम्। वधूर्जाया स्नुषा चेत्यमरः। अलकम् केशम्। बालकुन्दानुविद्धम् नूतनकुन्दयुक्तम्। आननश्रीः-मुखलक्ष्मीः।

लोध्रप्रसवरजसा, सारवप्रसूनरागेण पाण्डुताम् गौरताम् नीता प्राप्ता। जालवः सारवो लोध्रस्तिरीटस्तिल्थमार्जनावित्यमरः। चूडापाशे शिखाकलापे नवकुरवकम् कुरवकः शोणस्तरुविशेषः तस्य अभिनवपुष्पम्। तत्र शोणः कुरवकः तत्रार्पिते। कुरवकः शिखाचूडः केशपाशकलापयोः इत्यमरः। कर्णे शब्दग्रहे शिरीषम् शिरीषस्य वृक्षम् तत्र प्रसूनम्। किंविधम् चारु सुन्दरम्। च समुच्चये। सीमन्ते मंगे नीपम् नीपपादपसंबन्धिकुसुमम्। किंविधम् त्वदुपगमजम् तवोपगमः समीपे आगमनम् तस्माज्जातम्। यत्र वधूनामिति पदयुग्मम् सर्वत्र संबध्यम् ॥६९॥

अर्थ—जिस अलकापुरी में नवयुवतियाँ हाथ में लीला कमल धारण करती हैं, अलकों में कुन्दपुष्प गूँथती हैं, मुख में लोध्र पुष्प के पराग की शोभा से गोरापन को लाती हैं, जूड़े में नव-कुरवक के पुष्प तथा कानों में शिरीष के पुष्प खोंसती हैं। माँग को तुम्हारे आगमन के समय कदम्ब के पुष्पों से सजाती हैं ॥६९॥

यस्यां यक्षाः सितमणिमयान्येत्य हर्म्यस्थलानि
ज्योतिश्छायाकुसुमरचितान्युत्तमस्त्रीसहायाः।
आसेवन्ते मधु रतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतं
त्वद्गम्भीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु ॥७०॥

यस्यामिति—यक्षाः देवयोनयः मधु मद्यमासेवन्ते पिबन्ति। किं कृत्वा यस्याः नगर्याः हर्म्यस्थलानि सौधःप्रदेशान्, एत्य, आगत्य। किंविधानि, सितमणिमयानि, हरितमणिप्रचुराणि। पुनः किंविधानि, ज्योतिश्छायाकुसुमरचितानि, ज्योतिषां नक्षत्राणां छाया प्रतिफलम् यस्य तत्, तान्येव कुसुमानि तैः रचितानि तानि। पुनः किंविधम् कल्पवृक्षप्रसूतम्—कल्पपादपप्रादुर्भूतम् केषु सत्सु, शनकैः शनैः पुष्करेषु वाद्यमुखेषु आहतेषु ताडितेषु सत्सु पुनः किंविधेषु त्वद्गम्भीरध्वनिषु, तव गंभीरो मन्द्रश्चासौ ध्वनिः येषु ते तेषु। पुष्करः करिहस्ताग्रे वाद्यभाण्डमुखे जले, व्योम्निखंगफले पद्मे तीर्थौषधिविशेषयोः ॥७०॥

अर्थ—जिस अलकापुरी में यक्षलोग सौन्दर्य-सम्पन्न कामिनियों को साथ ले, शुक्लमणियों से बने हुए उन्नत भवनों में जो नक्षत्रों के प्रतिबिम्ब से फूलों से जड़े हुए के समान लगते हैं, जाकर तुम्हारे गर्जन के समान गंभीर ध्वनि वाले मृदङ्गों के बजने पर, कल्पवृक्ष से उत्पन्न रतिफल नामक कामोत्तेजक मधु का सेवन करते हैं ॥७०॥

गत्युत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मन्दारपुष्पैः
पत्रच्छेदैः कनककमलैः कर्णविभ्रंशिभिश्च ।
मुक्तालग्नस्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैश्च हारै-
र्नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम् ॥७१॥

गत्युत्कंपादिति—यत्र यस्यां नगर्यां नैशो मार्गः निशासंबंधी मार्गः पन्थाः । सूच्यते ज्ञायते । कामिनीनाम् मैथुनेच्छानाम् स्त्रीणाम् सवितुः सूर्यस्य उदये आविर्भावे । तैः मंदारपुष्पैः मन्दारतरुप्रसूनैः किंविधैः अलकपतितैः चूर्णकुन्दलस्रस्तैः । कस्माद् गत्युत्कम्पात् गतिर्गमनम् तत्रोत्कम्पः उत् अतिशयेन कंपः कंपनम् तस्मात् । पुनः कैः पत्रच्छेदैः वल्लीपर्णभंगैः । वकारः समुच्चये । कनककमलैः सुवर्णशतपत्रैः किंविधैः कर्णविभ्रंशिभिः श्रवणच्युतैः हारैः मुक्तावलिभिः । मुक्तालग्नस्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैः मुक्तासु लग्नश्चासौ स्तनपरिसरः स्तनविस्तारः तेन छिन्नानि सूत्राणि येषां ते तैः । न केवलं कमलैः मुक्ताजालैः न केवलं तैः हारैश्च अथवा किंविधैः हारैः मुक्तालग्नस्तनपरिमलैः पुनः किंविधैः मुक्ताजालैः स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैः स्तनयोः परिसरः पर्यन्तभागः तेन छिन्नम् त्रोटितं सूत्रं येषां ते ॥७१॥

अर्थ—जिस अलकापुरी में, शीघ्र गति से कम्पित होने के कारण अलकों से गिरे हुए मन्दार के फूलों, गिरे हुए पल्लव के खण्डों एवं कान से गिरे हुए स्वर्णकमलों, मोतियों तथा स्तनों की उन्नतता से टूटे हुए सूत्र वाले हारों के मार्ग में पड़े रहने के कारण मदविह्वल कामिनियों का निशाकालीन मार्ग सूर्योदय होने पर सूचित होता है ॥७१॥

नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्र बिम्बाधराणां
क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु ।
अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपान ,
ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः ॥७२॥

नीवीबंधेति—यत्र यस्यां नगर्यां यक्षाङ्गनानाम् गुह्यकवनितानां चूर्ण-मुष्टिः, वासयोग्यतरमुष्टिः, विफलप्रेरणा भवति, विफलं निष्फलम् प्रेरणं क्षेपणम् यस्याः सा हेतुगर्भविशेषणम् । किंविधानाम् ह्रीमूढानाम् ह्रिया त्रपया मूढाः अज्ञानास्तासाम् किं कृत्वा अभिमुखं रत्नप्रदीपान् प्राप्य आसाद्य किंविधान् अर्चिस्तुङ्गान् ज्योतिरुन्नतान् । केषु सत्सु प्रियेषु कान्तेषु क्षौम्यं दुकूलम् , आक्षिपत्सु सत्सु आकर्षत्सु । कस्माद् रागात् , अभिलाषात् । किंविधेषु, अनिभृतकरेषु चंचलपाणिषु । किंविधं नीवी-बंधोच्छ्वसितम् स्रस्तं शिथिलम् ॥७२॥

अर्थ—जिस अलकापुरी में प्रियतमों द्वारा अनुरागवश, नाभि के ऊपर की कपड़े की गाँठ को खोलकर वस्त्र के हटा लेने पर, पके कुँदरू के समान लाल अधरों वाली, लज्जित स्त्रियों द्वारा, चमकने वाले मणि दीपों के ऊपर पड़कर भी, फेंकी गयी कुंकुमचूर्ण आदि की मुट्ठियाँ व्यर्थ हो जाती हैं ॥७२॥

आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तै-
र्नान्यस्तापः कुसुमशरजादिष्टसंयोगसाध्यात् ।
नाप्यन्यस्मात् प्रणयकलहाद्विप्रयोगोपपत्ति-
र्वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति ॥७३॥

आनन्दोत्थमिति—यत्र यस्यां नगर्यां वित्तेशानाम् यक्षेश्वराणाम् , नयनसलिलमश्रु, अन्यैर्निमित्तैः हेतुभिः नास्ति न विद्यते । । निमित्तं हेतु लक्षण इत्यमरः । किंविधं, आनन्दोत्थं हर्षात् प्रादुर्भूतम् । तापः ज्वरः कुसुमशरजात् कुसुमशरजः मदेन अन्यो नास्ति । किंविधः, इष्टसंयोगा-साध्यः प्रियमेलनात् साध्यः प्रणयकलहाद् प्रीतिविग्रहात् अन्यः विप्रयो-गोपपत्तिः न । च समुच्चये । यत्र वित्तेशानाम् अपि पदद्वयं सर्वत्र संबध्यते । वयः बाल्यादिवयः यत्र यौवनात् तारुण्यात् अन्यन्नास्ति ॥७३॥

अर्थ—जिस अलकापुरी में नेत्रों में अश्रु आनन्द से उत्पन्न होते हैं दुःख से नहीं, शरीर में सन्ताप, जो प्रिय के संयोग से ही दूर होता है, कामदेव से ही उत्पन्न होता है, दूसरे प्रकार का ताप नहीं होता। वियोग की उत्पत्ति प्रणयजन्य कलह से ही होती है दूसरे कारणों से नहीं। उन यक्षों की युवावस्था के अतिरिक्त दूसरी आयु नहीं होती ॥७३॥

यत्रोन्मत्तभ्रमरमुखराः पादपाः नित्यपुष्पाः
हंसश्रेणीरचितरशनाः नित्यपद्मा नलिन्यः।
केकोत्कण्ठाः भवनशिखिनो नित्यभास्वत्कलापाः
नित्यज्योत्स्नाः प्रतिहततमोवृत्तिरम्याः प्रदोषाः॥७४॥

यत्रोन्मत्तेति—यत्र यस्यां नगर्यां पादपाः तरवो नित्यपुष्पाः सदा-कुसुमयुक्ताः, किंविधाः, अतएव उन्मत्तभ्रमरमुखराः, उन्मत्ताः अतिशयेन मत्ताः भ्रमराः षट्पदाः तैः मुखराः, वाचाटाः। नलिन्यः पद्मिन्यः नित्य-पुष्पाः अजस्रकुसुमाः, किंविधाः हंसश्रेणीरचितरशनाः हंसपंक्तिनिहित-मेखला: यत्र भवनशिखिनः मन्दिरमयूराः नित्यभास्वत्कलापाः नित्यं अविच्छिन्नं भास्वत् कलापो येषां ते। कलापो भूषणो बर्हः, इत्यमरः। कथंभूताः केकोत्कंठाः केकासु उत्कंठाः येषां ते। यत्र प्रदोषाः रजनीमुखानि नित्यं ज्योत्स्नाप्रतिहततमोवृत्तिरम्याः नित्यम् सततम् ज्योत्स्नायाम् चंद्रिकायाम् प्रतिहता निरावृता तमोवृत्तिः अंधकारवर्तनम् तया रम्याः सुन्दराः। तमिस्रं तिमिरं तमः। चंद्रिका कौमुदी ज्योत्स्ना इत्यमरः॥७४॥

अर्थ—जिस अलकापुरी में सर्वदा पुष्पित वृक्ष मतवाले भ्रमरों से शब्दायमान रहते हैं। कमलिनियाँ सदा कमलों से युक्त तथा करधनी के समान हंसपंक्तियों से घिरी रहती हैं। सदा चमकते हुये पंखोंवाले पालतू मयूर कूजने के लिये उत्कण्ठित रहते हैं ॥७४॥

नेत्रा नीताः सततगतिना यद्विमानाग्रभूमी-
रालेख्यानां नवजलकणैर्दोषमुत्पाद्य सद्यः।
शङ्कास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वादृशा जालमार्गै-
र्धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति॥७५॥

नेत्रेति—हे मेघ यत्र यस्यां नगर्यां त्वादृशाः त्वमिव दृश्यन्ते त्वादृशाः त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्चेति कञ्प्रत्ययः। त्वत्तुल्याः जलमुचः वनमुचः मेघाः जालमार्गैः गवाक्षैः जर्जराः शीर्णाः सद्यः सपदि निष्पतन्ति निर्गच्छन्ति। किंविधाः धूमोद्‌गारानुकृतिनिपुणाः, धूमस्य वह्निकेतनस्य उद्‌गारः अतिसारः तस्यानुकृतिः अनुकारः तत्र निपुणाः प्रवीणाः दक्षाः किं कृत्वा निष्पतन्ति। आलेख्यानाम् चित्राणाम्। नवजलकणैः दोषमुत्पाद्य लीलाकणिकाभिः दोषमुत्पाद्य। कथं मेघाः शंकास्पृष्टा इव भयचकिता इव कथंभूताः सततगतिना, वायुना यद्विमानाग्रभूमीः यस्या नगर्याः विमानानाम् सप्तगृहाणाम्, अग्रभूमीः नीताः प्रापिताः। किं विद्यते नेत्रा नियन्त्रा प्रेरकेणेत्यर्थः ॥७५॥

अर्थ—वायुरूपी नेता से प्रेरित अलकापुरी की ऊपरी अट्टालिकाओं में प्रविष्ट तुम्हारे जैसे बहुत से जलद भवनों की भित्तियों में लिखित चित्रों को वर्षा किए गए नवजलकणों द्वारा दूषित कर, धूम की आकृति में अपने को बनाने में चतुर सशंकित हो झरोखों के मार्ग से तितर-बितर होकर निकल जाते हैं ॥७५॥

अक्षीणान्तर्भवननिधयः प्रत्यहं रक्तकण्ठै-
रुद्‌गायद्भिर्धनपतियशः किन्नरैर्यत्र सार्धम्।
वैभ्राजाख्यं विबुधवनितावारमुख्यासहाया,
बद्धालापा बहिरुपवनं कामिनो निर्विशन्ति॥७६॥

अक्षीणेति इति—यत्र यस्यां नगर्यां कामिनः कामुकाः बहिः उपवनम् कृत्रिमवनम् निर्विशन्ति सेवन्ते उपभुंजन्ति। किंविधम् वैभ्राजाख्यम्-वैभ्राज इति आख्या नामधेयो यस्येति तमिव। पुनः कथंभूताः विबुधवनितावारमुख्याः सहायाः, येषां ते। पुनः कथंभूताः, अक्षीणान्तर्भवननिधयः, अक्षीणाः पूर्णाः अन्तर्भवने मध्यमन्दिरे निधयः पद्ममहापद्मादयो येषां ते। कदा निर्विशन्ति, प्रत्यहम् प्रतिदिनम्। किन्नरैः किंपुरुषैः सह। सहयुक्तेऽप्रधाने इति तृतीया। किंविधैः धनपतियशः कुबेरकीर्तिमुद्‌गा-

यद्भिः उत् उच्चैः गायन्ति ते उद्गायन्तस्तैः। किंविधैः रक्तकंठैः मधुरस्वरैः ॥७६॥

अर्थ—जिस अलकापुरी में अक्षय सम्पतिशाली विलासप्रिय यक्ष लोग देवाङ्गनाओं एवं वाराङ्गनाओं को साथ में लेकर, मधुर वार्तालाप करते हुये, मधुर स्वरों से कुबेर के यश का गान करने वाले किन्नरों के साथ वैभ्राज्य नामक बाहरी उपवन में प्रतिदिन विहारार्थ प्रवेश करते हैं ॥७६॥

मन्दाकिन्याः सलिलशिशिरैः सेव्यमाना मरुद्भि-
र्मन्दाराणामनुतटरुहां छायया वारितोष्णाः।
अन्वेष्टव्यैः कनकसिकतामुष्टिनिक्षेपगूढैः,
संक्रीडन्ते मणिभिरमरप्रार्थिता यत्र कन्याः॥७७॥

मन्दाकिन्या इति—यत्र यस्यां नगर्यां कन्याः कुमारिकाः मणिभिः रत्नैः संक्रीडन्ते खेलन्ति। क्रीडोऽनुसंपरिभ्यश्चेत्यात्मनेपदम्। किंविधैः अन्वेष्टव्यैः प्रेक्षणीयैः, तदेवोपपादयति। कनकसिकतामुष्टिनिक्षेपगूढैः, हेमबालुकामुष्टिनिक्षेपणेन गुप्तैः किंविधाः अमरप्रार्थिताः अमरैः प्रार्थिताः अभिलषिताः, किंविधाः मरुद्भिः पवनैः सेव्यमानाः तुष्टूयमानाः। किं-विशिष्टैः मन्दाकिन्याः त्रिपथगायाः सलिलशिशिरैः, तोयशीतलैः, कथं-भूतायाः मन्दाराणां मन्दाराभिधानाम् तरूणां छाययाऽनातपेन वारि-तोष्णाः निरातपाः। किंविधानाम् अनुतटरुहाम् तटं तीरमनुलक्षीकृत्य तत्र सहन्तीति तेषाम् ॥७७॥

अर्थ—जिस अलकापुरी में देवों से भी प्रार्थित मन्दाकिनी के जल-स्पर्श से शीतल वायु के द्वारा सेवा की जाती हुई, तथा तटों में उगे हुये मन्दार के वृक्षों की छाया से घर्मनिवारण की जाने वाली, यक्ष कुमारिकाएँ मणियों को स्वर्णमय बालू की भरी हुई मुट्ठी में छिपाकर फेंकने और उन्हें ढूँढ़ने का खेल खेला करती हैं ॥७७॥

वासश्चित्रं मधुनयनयोर्विभ्रमादेशदक्षं,
पुष्पोद्भेदं सहकिशलयैर्भूषणानां विकल्पान्।
लाक्षारागं चरणकमलन्यासयोग्यं च यस्या-
मेकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः ॥७८॥

वासश्चित्रमिति—यत्र यस्यां नगर्यां कल्पवृक्षः कल्पविटपी, सकलं समग्रम्, अबलामण्डनम् अङ्गनाविभूषणम्, एकः एकलः सूते, प्रसूते जनयति। साधारणं सामान्यम्। एकस्त्वेकक एकलः इत्यमरः। तदेव दर्शयति-वासः वस्त्रम् चित्रम् अनेकवर्णम्। सूतेति सर्वत्र संबध्यते। वास इति जातेरेकवचनम्। मधु मद्यं पुष्परस इत्यमरः। कथं सूते, नयनयोः विभ्रमादेशदक्षम् विलासशिक्षाकुशलम्, पुष्पोद्भेदम् पुष्पाणां कुसुमानाम् उत् अतिशयेन भेदः तम्। किसलयैः सह सार्धम्, भूषणानाम् अलङ्काराणाम् विकल्पान्, भेदान्। लाक्षारागमलक्तकम्। किंविधम् चरणकमलन्यासयोग्यम्, पादपद्मन्यासनयोग्यम् ॥७८॥

अर्थ—जिस अलकापुरी में, सुन्दरियों के, रंगविरंगे वस्त्र, नेत्रों को चंचल बना देने में चतुर मधु, नव पल्लवों के साथ पुष्पों को, विभिन्न प्रकार के आभूषणों को, चरण कमलों में लगाने के योग्य लाक्षारस को, इन सभी स्त्रियोचित मण्डनों को एक कल्पवृक्ष ही उत्पन्न करता है ॥७८॥

यत्र स्त्रीणां प्रियतमभुजालिङ्गिनोच्छ्वासिताना-
मङ्गग्लानिं सुरतजनितां तन्तुजालावनद्धाः।
त्वत्संरोधापगमविशदैश्चन्द्रपादैर्निशीथे,
व्यालुम्पन्ति स्फुटजललवस्यन्दिनश्चन्द्रकान्ताः ॥७९॥

यत्रेति—यत्र यस्यां नगर्यां, चन्द्रकान्ताः इन्दुमणयः स्त्रीणामङ्गग्लानिम् शरीरस्वेदं व्यालुम्पन्ति निकृन्तन्ति। कथंभूताः तंतुजालावनद्धाः सूत्रं वातायनसंबंधि तंतुजालावलंबाः तंतूनाम् जालमवलंबाः। पुनः कथंभूताः, स्फुटजललवस्यन्दिनः, कर्णविश्राविणः। पुनः कथंभूताः,

चन्द्रपादैः सुधारश्मिभिः। द्राविताः। किंविधैः त्वत्संरोधापगमविशदैः, तव संरोधः आवरणम् तस्यापगमः अभावः तेन विशदाः गौरास्तैः। किंविधाम् सुरतजनिताम्, निधुवनोत्पादिताम्, किंविधानाम् प्रियतमभुजालिंगनोछ्वासितानाम् प्रियतमानाम् भुजौ बाहू ताभ्यामालिंगनम् संश्लेषः तेनोछ्वासिताः हृष्टाः, तासाम् ॥७९॥

अर्थ—जिस अलकापुरी में अर्धरात्रि के समय, तुम्हारा आवरण हट जाने से निर्मल चन्द्र की किरणों के सम्पर्क से तन्तु जालों से जड़ी हुयी चन्द्रकान्त मणियों से स्पष्ट जलकणों को बहानेवाले फुहारे, अपने प्रियतमों के भुजालिङ्गन से उच्छ्वसित स्त्रियों की सुरत क्रीड़ा जनित थकावट को विशेष रूप से दूर करते हैं ॥७९॥

मत्वा देवं धनपतिसखं यत्र साक्षाद्वसन्तं
प्रायश्चापं न वहति भयान्मन्मथः षट्पदज्यम्।
सभ्रूभङ्गप्रहितनयनैः कामिलक्ष्येष्वमोघै-
स्तस्यारम्भश्चतुरवनिताविभ्रमैरेव सिद्धाः ॥८०॥

मत्वेति—यत्र यस्यां नगर्यां मन्मथो मदनः प्रायोबाहुल्येन चापं-धनुः न बिभर्ति। किंविधम् षट्पदज्यम्, षट्पदाः द्विरेफाः एव ज्या मौर्वी यस्य तत्। मौर्वीज्या सिंजनीगुण इत्यमरः। कस्माद् भयात् साध्वसात्। किं कृत्वा देवं शिवं मत्वा ज्ञात्वा, किंविधम् धनपतिसखं धनपतेः कुबेरस्य सखा धनपतिसखस्तम्। राजाहःसखिभ्यष्टच। किंविधम्, यत्र साक्षात् वसन्तम्, वसतीति वसन् तम्। मन्मथः कुसुमेषुः। चतुरवनिताविभ्रमैः, कुशला सानुरागा योषित्विलासैः। किंविधम्, कामिलक्ष्येषु कामुकशरव्येषु। अमोघैः सार्थकैः। लक्ष्ये लक्षशरव्यं चेत्यमरः। कथंभूतैः सभ्रूभंगप्रहितनयनैः, सह विकारैः प्रहितानि प्रेरितानि नयनानि विलोचनानि यत्र तैः ॥८०॥

अर्थ—जिस अलकापुरी में कुबेर के मित्र महादेवजी को साक्षात् निवास करते हुये मानकर कामदेव भय के कारण भ्रमरों की प्रत्यञ्चावाले

धनुष को प्रायः नहीं धारण करता क्योंकि उसका कार्य कामीरूपी लक्ष्य में कभी भी व्यर्थ न होने वाले चतुर कामिनियों के हावभाव युक्त भौंहें मड़ोर कर प्रेरित किये जाने वाले नयनों से ही सिद्ध हो जाता है ॥८०॥

तत्रागारं धनपतिगृहादुत्तरेणास्मदीयं
दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन ।
यस्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे,
हस्तप्राप्यस्तवकनमितो बालमन्दारवृक्षः ॥८१॥

तत्रागारमिति—तत्र तस्यां नगर्यां तदस्मदीयं अस्माकमिदमस्मदीयमागारं मन्दिरं धनपतिगृहात् कुबेरनिलयात् उत्तरेण उत्तरास्यां दिशि अस्ति । एनयेति द्वितीया । सदनागारमन्दिरं गृहावसति इत्यमरः । किंविधम् तोरणेन बहिर्द्वारेण दूरात् विप्रकृष्टात् लक्ष्यं लक्षणीयम् । तोरणोऽस्त्री बहिर्द्वारं पुरद्वारं तु गोपुरमित्यमरः । किंविधेन सुरपतिधनुश्चारुणा इन्द्रचापसुन्दरेणा । तत् किं यत् उद्याने आक्रीडे बालमन्दारवृक्षः नव्यमन्दारतरुः अस्ति । अस्तिभवत्योरध्याहारः । किंविधः मे मम कृतकतनयः कृत्रिमपुत्रः । पुनः कथंभूतः कान्तया प्रियया वर्धित उपचारितः । पुनः कथंभूतः हस्तप्राप्यस्तवकनमितः, हस्तैः करैः प्राप्याश्च तेस्तवकाश्च तैः नमितः प्रह्वीकृतः ॥८१॥

अर्थ—वहाँ धनपति के भवन से उत्तर की ओर, इन्द्रधनुष के समान सुन्दर उच्चतोरण होने के कारण दूर से दिखाई देने वाला मेरा भवन है । जिसके कि समीप मेरी प्रिया के द्वारा सम्वर्धित, हाथों से पा जाने योग्य फूल के स्तवकों से झुकी हुई डाली वाला छोटा सा मन्दार पुष्प का वृक्ष है ॥८१॥

वापी चास्मिन् मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा,
हैमैश्छन्ना विकचकमलैः स्निग्धवैदूर्यनालैः ।
यस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं संनिकृष्टं,
नाध्यास्यन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्य हंसाः ॥८२॥

वापी चेति—अस्मिन् उद्याने वापी दीर्घिका चास्ति। किंविधा मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा गारुत्मकदृषद्बद्धनिश्रेणिपद्धतिः। पुनः किंविधा विकचकमलैः विकसितसहस्रपत्रैः छन्ना आच्छादिता किंविधैः हैमैः कांचनैः। पुनः किंविधैः स्निग्धवैदूर्यनालैः स्निग्धानि अरुक्षाणि तेजस्वीनि तानि वैदूर्याणि रत्नानि तेषां नालाः येषां तानि तैः। नलो नालमथास्त्रियामित्यमरः। सा का यस्यास्तोये अम्भसि कृतवसतयः विहितनिवासाः हंसाः मानससरोरुहं नाध्यास्यन्ति न चिन्तयिष्यन्ति। किं कृत्वा त्वां भवन्तं प्रेक्ष्य विलोक्यापि। किंविधं सन्निकृष्टं सन्निहितम्। किंविधाः व्यपगतशुचः गतशोकाः॥८२॥

अर्थ—हे मेघ! मेरे भवन में मरकत मणि की बनी हुई सीढ़ियों से युक्त मार्ग वाली और चिकने वैदूर्यमणि की नालदण्ड वाले विकसित स्वर्ण कमलों से आच्छादित बावली है। जिसके जल में निवास करने वाले हंस तुम्हें देखकर भी प्रसन्नचित्त, समीपवर्ती मानसरोवर का ध्यान तक नहीं करते॥८२॥

तस्यास्तीरे रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः
क्रीडाशैलः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः।
मद्गेहिन्याः प्रिय इति सखे चेतसा कातरेण,
प्रेक्ष्योपान्तस्फुरिततडितं त्वां तमेव स्मरामि॥८३॥

तस्यास्तीर इति—तस्याः वाप्याः तीरे तटे क्रीड़ाशैलः लीलाचलोऽस्ति। किंविधः इन्द्रनीलैः रचितशिखरः विरचितश्रृंगः। किंविधैः पेशलैः चारुभिः। चारौ दक्षे च पेशलमित्यमरः। पुनः किंविधः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः शातकुम्भरम्भावरणावलोकनीयः। भो सखे सुहृद् त्वां भवन्तं प्रेक्ष्य विलोक्य तमेव क्रीड़ाशैलमेव स्मरामि ध्यानं करोमि। शेषविवक्षावधारणे षष्ठ्यभावः। कथंभूतं त्वाम्-उपान्तस्फुटिततडितं समुल्लसद्विद्युतम्। केन चेतसा हृदा। किंविधेन कातरेणाधीरेण कातरे

स्निग्धातिभीरुक इत्यमरः। किमिति स्मरति मद्गेहिन्याः जायायाः प्रियो वल्लभः इति। अभीप्सितं हृद्यं दयितं वल्लभमित्यमरः ॥८३॥

अर्थ—उस वापी के तट में कोमल इन्द्रनील मणियों से रचित शिखर वाला, सुनहले रंग के केले के वृक्षों से वेष्टित होने के कारण दर्शनीय क्रीड़ा पर्वत बना हुआ है। हे मित्र चारों ओर चमकती हुई बिजली से घिरे हुये तुम्हें देखकर, मेरी गेहिनी का वह अतिप्रिय है इस लिये अधीर चित्त से उसी की सुधि आती है ॥८३॥

रक्ताशोकश्चलकिसलयः केशरश्चात्र कान्तः
प्रत्यासन्नो कुरवकवृतेर्माधवीमण्डपस्य।
एकः ख्यातस्तव सह मया वामपादाभिलाषी
काङ्क्षत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छद्मनास्याः॥८४॥

रक्ताशोकेति—अत्रास्मिन् उद्याने माधवीमण्डपस्य प्रत्यासन्नौ सन्निहितौ द्वौ तरू स्तः। रक्ताशोकः केशरश्च पुन्नागश्च किंविधः प्रथमः चलकिशलयः चलपल्लवः किंविधः द्वितीयः कान्तः कमनीयः वापेयः केशरो नागकेशरः। किंविधस्य कुरवकवृतेः कुरवकानां वृतिः आवरणं यस्य तस्य तयोरेकः। अस्याः तव सख्याः वयस्यायाः वामपादाभिलाषी दक्षिणेतरचरणाभिलाषुकः। मया सह। अन्योऽपि द्वितीयः। वदनमदिरां मुखगन्धोत्तमां कांछति वांछति। केन दोहदछद्मना दोहदमिषेण ॥८४॥

अर्थ—उस उद्यान में करसैय्या के फूलों से घिरे हुए माधवी लतामण्डप के समीप चंचल नव पल्लवों वाला लाल अशोक तथा सुन्दर केशर के वृक्ष हैं। उनमें से प्रथम पुष्पित होने के बहाने मेरे ही समान तुम्हारी सखी के वामचरणाघात का इच्छुक है, तथा दूसरा उसके मुख की मदिरा को चाहता है ॥८४॥

तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टि-
मूले बद्धा मणिभिरनतिप्रौढ़वंशप्रकाशैः ।
तालैः शिञ्जावलयसुभगैर्नर्तितः कान्तया मे
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः॥८५॥

तन्मध्य इति—तयोर्मध्ये सा वासयष्टिः निवासयष्टिः अस्ति । च समुच्चये । किंविधा कांचनी हैमी पुनः किंविधां स्फटिकफलका स्फटिकानां फलका यस्याः सा । पुनः किंविधा मणिभिः मूले आद्य-भागे बद्धा नद्धा । किंविधैः अनतिप्रोढ़वंशप्रकाशैः अनतिप्रौढ़ाऽकठोराश्च ते वंशाश्च तद्वत् प्रकाशो द्युतिर्येषां ते । सा का यां वासयष्टिं नीलकंठो भुजङ्गभुक् अध्यास्ते अधितिष्ठति । अधिशिङ्स्थासां कर्मेति द्वितीया । कदा दिवसविगमे वासरात्यये । मयूरो बर्हिणो बर्हो नीलकण्ठो भुजङ्गभुक् इत्यमरः । वः युस्माकम् सुहृद् मित्रम् । किंविधा मे मम कान्तया सुन्दर्या तालैः तालिकाभिः नर्तितः नृत्यं कारितः । किंविधैः शिंजावल-यसुभगैः शिञ्जन्ति शब्दायमानानि च तानि वलयानि कटकानि तैः सुभगाः सुन्दराः तैः ॥८५॥

अर्थ—अशोक एवं केशर के वृक्षों के बीच में, हरे रंग के वास जैसे कान्ति वाली मरकत मणियों के बेंचें के भाग में जटित, स्फटिक मणि की पटिया पर स्वर्णमय पक्षियों के बैठने की यष्टी बनी हुई है । उसपर तुम्हारा मित्र नीलकंठ सायंकाल मेरी प्रियतमा द्वारा कंकण के किंकि-णियों की ध्वनि से मधुर हाथोंकी तालियों से नचाया गया, आकर बैठता है ॥८५॥

एभिः साधो मनसि निहितैर्लक्षणैर्लक्षयेथा
द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शङ्खपद्मौ च दृष्ट्वा ।
क्षामच्छायं भवनमधुना मद्वियोगेन नूनं,
सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम् ॥८६॥

एभिरिति—भो साधो सज्जन! पूर्वोक्तैः लक्षणैः चिह्नैः भवनं मंदिरं लक्षयेथाः अङ्कयेथाः। किंविधैः मनसि मानसे निहितैः सम्भृतैः। किं कृत्वा शंखपद्मौ निधी दृष्ट्वा प्रेक्ष्य। किंविधौ द्वारोपान्ते द्वारसमीपे लिखितवपुषौ रचितवपुषौ। अधुना इदानीं। मद्वियोगेन मम वियोगेन विरहेण। भवनं नूनं निश्चितं। क्षामच्छायं लुप्तकान्तिः। खलु निश्चितम् सूर्यापाये दिवाकरास्तसमये कमलं सहस्रपत्रं स्वामात्मीयामभिख्यां शोभां न पुष्यति न पुष्णाति ॥८६॥

अर्थ—हे साधु मेघ! मन में स्थापित पूर्वोक्त चिह्नों से तथा द्वार के पक्षों में चित्रित शंख, पद्म को देखकर, इस समय मेरे वियोग से क्षीण कान्तिवाले मेरे भवन को निश्चय ही जान तुम लोगे। क्योंकि सूर्य के अस्त हो जाने वर कमल कभी भी अपनी शोभा को नहीं धारण करता ॥८६॥

गत्वा सद्यः कलभतनुतां शीघ्रसंपातहेतोः
　　क्रीडाशले प्रथमकथिते रम्यसानौ निषण्णः।
अर्हस्यन्तर्भवनपतितां कर्तुमल्पाल्पभासं,
　　खद्योतालीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम् ॥८७॥

गत्वेति—त्वं एनां विद्युन्मेषदृष्टिम् तडित्प्रकाशदृशम्। भवनपतितां मन्दिरपतिताम् मन्दिरप्राप्तां कर्तुं विधातुमर्हसि अर्हो भवसि। किंविधम् अल्पाल्पभासम् अस्तिन्यूनप्रकाशाम्। पुनः किंविधां खद्योतालीविलसितनिभां खद्योतपङ्क्तिस्फुरितसमाम्। किंविधः क्रीड़ाशैले निषण्णः स्थितः। किं कृत्वाः सद्यः सपदि कलभतनुताम् करिशावककृशतां गत्वा प्राप्य। कलभः करिशावकः इत्यमरः। कस्मात् शीघ्रसंपातहेतोः किंविधे प्रथमकथिते आदावुक्ते। पुनः किंविधे रम्यसानौ सुन्दरशिखरे ॥८७॥

अर्थ—हे मेघ! शीघ्रगामी होने के लिये तत्काल हाथी के बच्चे के समान अपने शरीर को बनाकर प्रथम बताये हुए क्रीड़ाशैल की

रमणीय चोटी पर बैठे हुए, जुगुनुओं की चमक के समान अपनी विद्युत् के प्रकाशरूपी दृष्टि को मन्द-मन्द कान्तिवाली बनाते हुए मेरे घर के अन्दर प्रेरित करना ॥८७॥

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः ।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः ॥८८॥

तन्वीति—तत्र तस्मिन् मन्दिरे या स्यात् भवेत् तां त्वं जानीथाः । किंविधाः श्यामा-अभ्रसुता । शिखरिदशना शिखरवत् दशनानि यस्या सा । पुनः कथंभूता मध्ये क्षामा कृशा कृशोदरीत्यर्थः । पुनः निम्ननाभिः गंभीरनाभिः निम्नगंभीरमुत्तानमित्यमरः। पुनः कथंभूता अलसगमना मन्दगतिः । कस्मात् श्रोणीभारात् कटिश्रोणीककुदमती इत्यमरः । पुनः किंविधा स्तनाभ्यां कुचाभ्यां स्तोकनम्रा ईषन्नम्रा । किंविधेव धातुः स्रष्टुः आद्या प्रथमा सृष्टिः स्वर्ग इव । कस्मिन् युवतिविषये तरुणिनिर्माणे ॥८८॥

अर्थ—पतले अवयवों वाली श्यामा, पैने दाँतों वाली, पके हुए कुन्दुरू जैसे लाल ओठों से युक्त, मध्यभाग में पतली, चंचल हरिणी के समान नेत्रों वाली, गहरी नाभियुक्त, नितम्बों के भार के कारण अलसित गति, स्तनों के भार से कुछ झुकी हुई, युवतियों में विधाता की आदि-सृष्टि-सी वह होगी ॥८८॥

तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम् ।
गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम् ॥८९॥

तां जानीथेति—किंविधां गाढोत्कण्ठां गाढा उत्कण्ठा उत्का यस्याः सा तां कस्मिन् सति मयि सहचरेऽभिचरे दूरीभूते दूरस्थे सति कामिव

चक्रवाकीमिव रथाङ्गवनितामिव कथंभूतामेकामेकलां। द्वयोः विशेषणम्। पुनः कथंभूताम् परिमितकथां परिमितवचनाम्। पुनः मे मम द्वितीयं जीवितम्। सम्भावनां दर्शयति। बालामप्रौढ़ामन्यरूपां जातां मन्ये सम्भावयामि। अन्यत् पूर्वव्यतिरिक्तम् रूपं स्वरूपं यस्याः सा ताम्। केषु सत्सु एषु आषाढ़सम्बन्धिषु दिवसेषु गच्छत्सु सत्सु किंविधेषु गुरुषु कामिव पद्मिनीमिव कमलिनीमिव, इवार्थे किंविधां शिशिरमथितां हिमध्वस्ताम् ॥८९॥

अर्थ—प्रिय सहचरभूत मेरे दूरस्थित रहने पर वियुक्त चक्रवाकी के समान कम बोलने वाली एकाकिनी मेरे एक दूसरे जीवन जैसी समझना। अत्यन्त उत्कंठा से युक्त विरह के कारण बहुत बड़े इन दिनों के व्यतीत होते समय, शिशिर ऋतु के पाले से मथित कमली के समान दूसरे प्रकार की हो गई होगी ऐसा मैं मानता हूँ ॥८६॥

नूनं तस्याः प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं प्रियाया
निःश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम्।
हस्तन्यस्तं मुखमसकलव्यक्तिलम्बालकत्वा-
दिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति ॥९०॥

नूनं तस्येति—नूनं निश्चितं तस्याः प्रियायाः कान्तायाः मुखं वदनं इन्दोश्चन्द्रमसः दैन्यं दीनतां बिभर्ति धारयति। किंविधम् असकलव्यक्ति असमग्रप्रकाशम्। कस्मात् लम्बालकत्वात् प्रलम्बचूर्णकुन्तलत्वात्। किंविधस्य इन्दोः त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेः तवागमनाद्भ्रष्टद्युतेः। पुनः प्रबलरुदितोच्छूननेत्रम् प्रबलं परुषं रुदितं तेन उच्छूने नेत्रे उत् ऊर्ध्वं शूने सशोके नेत्रे लोचने यस्य तत्। किंविधम् भिन्नवर्णाधरोष्ठम् भिन्नो भेदं प्राप्तोऽन्यथाजातो वर्णो ययोस्तौ भिन्नवर्णौ अधरोष्ठौ यस्य तत्। कया निश्वासानां श्वासोच्छ्वासानामशिशिरतया उष्णत्वेन। किंविधं हस्तन्यस्तम् करनिहितम् ॥९०॥

अर्थ—निश्चय ही अत्यन्त रोने के कारण सूजे हुये नेत्रों से युक्त, लम्बी श्वासों के अत्यन्त गरम होने के कारण फीके वर्ण के अधरोष्ठों वाली, एवं हाथ में स्थित तथा लम्बे अलकों के कारण पूर न दिखाई देने वाला मुख, तुम्हारे घेर लेने से धुँधुली कान्ति वाले चन्द्र के समान उदास हो गया होगा ॥९०॥

आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा
मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती ।
पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां
कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति ॥९१॥

आलोकेति—त्रिभिराकुलकम् । भो सौम्य सुन्दर । सा प्रिया ते तव आलोके दर्शने पुरा निपतति निपतिष्यति । यावत्पुरानिपातयोः भविष्यदर्थे लिट् । आलोको दर्शनो धनो । कविधा घनौनिपतिष्यति बलिव्याकुला पूजाव्यग्रा वा अथवा मत्सादृश्यं लिखन्ती । किंविधम् विरहतनु वियोगकृशम् । हेतुगर्भविशेषणमाह—भावगम्यं स्वभावेनाभिप्रायेण वा गम्यं गेयम् । भावः सत्यस्वभावाभिप्रायचेष्टान् ये जन्मसु प्रियस्य वियोगेन । इति सारिकां पक्षिणीं पृच्छन्ती वा । किंविधां मधुरवचनां प्रियवचनाम् । पुनः पंजरस्थां पंजरो बन्धविशेषः तत्र तिष्ठतीति पंजरस्था ताम् । भो रसिके मधुरे भर्तुः प्रियस्य स्मरसि अध्येसि कच्चित् । अधीगर्थदयेषां कर्मणि षष्ठी । हि यस्मात् कारणात् त्वं तस्य प्रिया वल्लभा । वा शब्दो विकल्पने । उपमायां विकल्पे वेत्यमरः ॥९१॥

अर्थ—हे सौम्य मेघ, वह मेरी प्रिया, देवताओं को बलि प्रदान करने में व्यस्त, वा अपने भावानुरूप विरह से दुर्बल मेरे चित्र को बनाती हुई, अथवा, मधुर वचन बोलने वाली पिंजड़े में बैठी हुई सारिका से—"हे रसिके क्या तुम भर्ता का स्मरण करती हो, तुम उन्हें बहुत प्रिय थी" इस प्रकार पूँछती हुई, तुम्हारे दृष्टिपथमें उपस्थित होगी ॥९१॥

उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्यनिक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा ।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथञ्चित्
भूयोभूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥९२॥

उत्संगेति—पुनः कथंभूता । गेयं गानार्हम् उद्गातुकामा उत् उच्चैः गातुं कामोऽभिलाषो यस्याः सा उद्गातुकामा । काममनसोरपि, इति मलोपः । किंविधं विरचितपदं विरचितानि कृतानि पदानि यत्र तत् पुनः किंविधं मद्गोत्राङ्कं मम गोत्रं नाम तस्य चिह्न यत्र तत् । गोत्रं नाम कुले शैले इत्यभिधाने । अङ्कचिन्हयोरित्यमरः । किं कृत्वा वीणां वल्लकीमुत्संगे अंके निक्षिप्य निधाय । किंविधे मलिनवसने सरजांशुके । पुनः भूयोभूयः मुहुर्मुहुः मूर्च्छनां प्रतिग्रामं । एकविंशति मूर्च्छनाः भवन्ति । सप्तस्वरास्त्रयो ग्रामाः मूर्च्छना एकविंशतिः । तानि एकोनपंचाशत् एतद्‌गेयस्य लक्षणम् । कथंभूतं मूर्छनां स्वयमपि कृता-आत्मनापि विहितां । किं कृत्वा विस्मरंति कथंचित् प्रकारेण तन्त्रीं सप्तस्वरां सारयित्वा ताड़यित्वा । किंविधां नयनसलिलैः लोचनाम्बुभिः आर्द्रां क्लिन्नां ॥९२॥

अर्थ—अथवा मलीन वस्त्र से युक्त गोद में वीणा को रख कर मेरे नाम से युक्त पदवाले गीत को उच्चस्वर से गाने की इच्छा से आँसुओं से भीनी हुई वीणा को जिस किसी प्रकार पोंछकर स्वयं अपने द्वारा छेड़े गये स्वरों को भूल जाती हुई (तुम्हें नेत्रगोचर होगी) ॥९॥

शेषान् मासान् गमनदिवसस्थापितस्यावधेर्वा
विन्यस्यन्ती भुवि गणनया देहलीदत्तपुष्पैः ।
मत्सङ्गं वा हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती
प्रायेणैते रमणविरहेष्वङ्गनानां विनोदाः ॥९३॥

शेषानिति—आवयोः मर्यादायाः शेषान् मासान् भुवि भूम्यां गणनया एकद्वित्रिसंख्यया विन्यस्यन्ती विदधती । कैः देहलीमुक्तपुष्पैः गृहावग्रहणी देहलीत्यमरः । किंविधस्य अवधेः गमनदिवसस्थापितस्य,

प्रस्थाननिहितावसरस्य। पुनः किंविधस्य मत्संयोगं मम संयोगं आस्वादयन्ती अनुभवन्तीव। किंविधाम्, हृदयनिहितारम्भम् हृदये मनसि निहितः संभूतः सततं कथं एते विकाराः उदयपथमारोहतीत्याशं-क्याह–रमणविरहेषु, प्राणनाथवियोगेषु अंगनानां वामलोचनानाम् प्रायेण बाहुल्येन एते पूर्वोक्ता विनोदाः समयपालनानि भवन्ति ॥९३॥ त्रिभिः कुलकं पूर्णम्।

अर्थ—अथवा प्रिय के गमन दिन से रखे जाते हुए, अवधि के बचे हुए महीनों को देहली में स्थापित फूलों की गणना कर भूमि में रखती हुई, अथवा हृदय में स्थापित मेरे समागम सुख का आनन्द लेती हुई (तुम्हें दृष्टिगोचर होगी) क्योंकि पति के वियोग में स्त्रियों के प्रायः यही मनोविनोद के साधन होते हैं ॥९३॥

सव्यापारामहनि न तथा पीडयेन्मद्वियोगः
शङ्के रात्रौ गुरुतरशुचं निर्विनोदां सखीं ते।
मत्सन्देशैः सुखयितुमलं पश्य साध्वीं निशीथे
तामुन्निद्रामवनिशयनासन्नवातायनस्थः ॥९४॥

सव्यापारामिति—मद्वियोगो मम वियोगः विरहः ते तव सखीं वयस्यां यथा रात्रौ रजन्यां पीडयेद् क्लेशयेत् तथा अहनि दिने न इत्यहं शंके आशंके। सव्यापाराम् व्यापारेण सह वर्तमानाम् किंविधां गुरुतरशुचम् गुरुतरा दृढ़तरा शुक् शोको यस्याः सा तां, अतस्तां निशीथे पश्य रात्रौ ईक्षस्व। अर्धरात्रं निशीथेत्यमरः। शंकानिवृ-त्यर्थं विशेषणमाह साध्वीं पतिव्रताम्। पुरन्ध्री सुचरित्रा तु सती साध्वी पतिव्रता, इत्यमरः। पुनः कथंभूतामुन्निद्राम्, गतनिद्राम्। किंविधस्त्वम् प्रियोदन्तैः, मत्संदेशैः सुखयितुम् सुखं कर्तुमलं समर्थः। पुनः कथंभूतः अवनिशयनासन्नवातायनस्थः, अवनौ भूमौ शयनं शय्या तस्याः आसन्नं समीपं यद्वातायनम् गवाक्षम् तत्र तिष्ठतीति। वातायनं गवाक्षः स्यादित्यमरः ॥९४॥

अर्थ—दिन में गृह-कार्यों में लगी हुई प्रियतमा को मेरा वियोग उतना पीड़ादायक नहीं होगा किन्तु मैं आशंका करता हूँ कि तुम्हारी सखी को रात्रि में विनोदोपाय न होने के कारण अत्यधिक शोक होगा। अतः भूमि पर बिछे हुए बिछावन के समीपस्थ झरोखे में स्थित होकर, अर्धरात्रि में जगती हुई उस साध्वी को मेरे सन्देशों से सुखी करने के लिए देखना ॥९४॥

सा संन्यस्ताभरणमबला पेशलं धारयन्ती
शय्योत्सङ्गे निहितमसकृद्दुःखदुःखेन गात्रम्।
त्वामप्यस्रं नवजलमयं मोचयिष्यत्यवश्यं
प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा ॥९५॥

आधिक्षामामित्यारभ्य सा संन्यस्ता इत्यन्तम् पंचभिः कुलकम्। सेति—सा अबला त्वामपि भवन्तमपि, अस्रम्, अश्रु अवश्यं मोचयिष्यति। मुञ्चन्तं प्रेरयिष्यति। किंविधम्, नवजलमयम्, नवीनसलिलप्रधानम्। लोकस्य निश्चयं दर्शयति—सर्वोऽपि आर्द्रान्तरात्मा—आर्द्रः स्निग्धः अन्तरात्मा जीवो यस्य सः। प्रायैः बाहुल्येन करुणावृत्तिर्भवति। त्वं स्वभावेन आर्द्रान्तरात्मा भवसि अतः त्वाम् मोचयिष्यति एव। किंविधा दुःखेनातिदुःखेन गात्रं शरीरं धारयन्ती बिभ्रती किंविधम् संन्यस्ताभरणम्, संन्यस्तानि मोचितानि आभरणानि भूषणानि येन तत् पुनः कथंभूतम् पेलवम्। पेलवं विरलमित्यमरः ॥९५॥

अर्थ—त्यागे गये आभूषणों से युक्त अनेकशः दुःखों से शय्या पर स्थापित कोमल शरीर को धारण करनेवाली वह तुम्हें भी नवजलमय अश्रुमोचन के लिए विवश कर देगी क्योंकि प्रायः सभी दयापूर्ण हृदय वाले आर्द्र अन्तरात्मा वाले होते हैं ॥९५॥

आधिक्षामां विरहशयने सन्निषण्णैकपार्श्वां
प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषा हिमांशोः ।
नीता रात्रिः क्षण इव मया सार्धमिच्छारतैर्वा
तामेवोष्णैर्विरहजनितैरश्रुभिर्यापयन्ती ॥९६॥

आधिक्षामामिति—पुनः कथंभूता तामेव रात्रिं रजनीमश्रुभिः नेत्राश्रुभिः यापयन्ती, परिफलयन्ती, किंविधैः उष्णैः अशीतलैः हेतुगर्भविशेषणम्; विरहजनितैः वियोगजनितैः सा का रात्रिः शर्वरी मया सार्धं सह इच्छारतैः इच्छासुरतैः नीता अतिक्रान्ता क्षण इव निमिषाल्पकाल इव । पुनः किंविधा आधिक्षामां आधिना मानसेन क्लेशेन क्षामाम् क्षीणाम् दुर्बलाम् । पुनः कथंभूताम् विरहशयने वियोगशयनीये । संनिषण्णैकपार्श्वा संनिषण्णः स्थिरः एकपार्श्वो कक्षभागो यस्याः सा । बाहुमूले उभे कक्षौ पार्श्वमास्त्रितयोधरः इत्यमरः। कस्मिन् का इव प्राचीमूले पूर्वादिक् तस्याः मूले आदौ हिमांशोः चंद्रस्य तन्मूर्तिरिव । किंविधा कलामात्रशेषा कला एव कलामात्रम् शेषं यस्याः सा । अवधारणे मात्रशब्दप्रयोगः ॥९६॥

अर्थ—आन्तरिक चिन्ताओं से दुर्बल, विरह-शय्या में एक ही करवट से पड़ी हुई प्रियतमा को पूर्वदिशा के क्षितिज में एक कलामात्र शेष चन्द्रमा के शरीर के समान स्थित, एवं मेरे साथ इच्छानुसार विलासों में क्षण के समान रात्रि को बितानेवाली, उन्हीं रात्रियों को वियोग से उत्पन्न उष्ण अश्रुओं से व्यतीत करती हुई दृष्टिगोचर होगी ॥९६॥

निःश्वासेनाधरकिसलयक्लेशिना विक्षिपन्ती
शुद्धस्नानात्परुषमलकं नूनमागण्डलम्बि ।
मत्संभोगः कथमुपनयेत्स्वप्नजोऽपीति निद्रा-
माकांक्षन्ती नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशा ॥९७॥

निःश्वासेति—पुनः कथंभूता अलकं चूर्णकुन्तलम् विक्षिपन्ती अस्यती इतस्ततो नयन्ती। केन निःश्वासेन नितरां श्वासो निःश्वासस्तेन किंविधेन अधरकिसलयस्य क्लेशिना, अधरपल्लवपरितापिना। किंविधम् नूनं निश्चितम्। आगण्डलम्बि आगण्डाभ्यां कपोलाभ्यामित्यागण्डं, विभक्त्यर्थे अव्ययीभावः। आगण्डं लंबत इति आगण्डलंम्बि। गंडः कपोलः इत्यमरः। पुनः किंविधं परुषम् अस्निग्धम्। कस्मात् शुद्धस्नानात् पुनः किंविधा निद्रां स्वापमाकांक्षती अभिलषती। तत् किमिति स्वप्नजः मत्संगः मत्संबंधः सुखं नूनं निश्चितम् योज्यमुपनयेत् प्रापयेत्। किंविधाम् नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशां नयनसलिलानां नेत्रांबूनाम् उत्पीडः उत्सरः तेन रुद्धोऽकृतोऽवकाशो यस्याः सा ताम् ॥९७॥

अर्थ—तैलादि के बिना स्नान करने के कारण कपोलों तक लम्बायमान अलकों को अधरपल्लव को म्लान बना देनेवाली लम्बी उष्ण श्वास से हटाती हुई, निरन्तर बहनेवाले आँसुओं से भरी हुई पलकों वाली, वह स्वप्न में भी मेरे साथ समागम कैसे प्राप्त हो इसलिये निद्रा की अकांक्षा करनेवाली (मेरी प्रिया तुम्हें दृष्टिगोचर होगी) ॥९७॥

आद्ये बद्धा विरहदिवसे या शिखा दाम हित्वा
शापस्यान्ते विगलितशुचा तां मयोद्वेष्टनीयाम्।
स्पर्शक्लिष्टामयमितनखेनासकृत् सारयन्तीं
गण्डाभोगात् कठिनविषमामेकवेणीं करेण ॥९८॥

आद्येति—पुनः किंविधां तामेकवेणीम्, करेण हस्तेन गण्डाभोगात् कपोलप्रदेशादसकृत् मुहुर्मुहुः सारयन्ती पृथक् कुर्वती। पश्चात् भागेनापनयन्ती। किंविधेन करेण अयमितनखेन अयमितानि नखानि यस्य सः तेन अकर्तितनखेन। करोरुहो नखोऽस्त्री नखरोऽस्त्रियाम् इत्यमरः। किंविधा प्रदर्शयति—या आद्ये मे विरहदिवसे वियोगवासरे बद्धा।

किं कृत्वा शिखादाम हित्वा या उद्वेष्टनीया। कदा शापस्यान्ते अभिषङ्गात्र-सानान्ते। विगलितशुचा अपगतशोकेन ॥९८॥

अर्थ—विरह के प्रथम दिन में जूड़े की माला को खोलकर जो चोटी मैंने गूँथी थी और शाप के अन्त में शोकरहित होकर मेरे द्वारा ही बाँधी जायेगी, उसे छूने से भी पीड़ोत्पादक- रूखी एवं उलझी हुई, एक ही चोटी को अपने बढ़े हुए नखों से बार-बार, कपोलों के ऊपर से हटानेवाली मेरी प्रियतमा को देखोगे ॥९८॥

पादानिन्दोरमृतशिशिराञ्जालमार्गप्रविष्टान्
पूर्वप्रीत्या गतमभिमुखं संनिवृत्तं तथैव।
चक्षुः खेदात्सलिलगुरुभिः पक्ष्मभिश्छादयन्तीं
साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनीं न प्रबुद्धां न सुप्ताम्॥९९॥

पादानीति—पुनः किंविधा न प्रबुद्धा न जागृता, न सुप्ता न निद्रिता। केव साभ्रे समेघेऽह्नि दिने स्थलकमलिनी इव। किंविधा चक्षुः लोचनम् छादयन्ती। सलिलगुरुभिः अश्रुमन्थरैः। किंविधम् इन्दोः विधोः पादान् किरणान्। अभिमुखम् सन्मुखम्। पूर्वप्रीत्या प्राक्तनप्रेम्णा गतं प्राप्तम्। किंविधान् अमृतशिशिरान् सुधाशीतान्। पुनः किंविधान् जाल-मार्गप्रविष्टान् वातायनवर्त्म प्रविष्टान् किंविधं यथैव गतं सन्निवृत्तं व्यावृत्तं। कस्मात् खेदात् उपतापात्। वियोगिनां चन्द्रकराः खेदकराः भवन्ती-त्यर्थः ॥९९॥

अर्थ—झरोखों की जालियों से प्रवेश करती हुई, अमृत के समान शीतल चन्द्र की किरणों को, पूर्वस्नेह के कारण उस ओर अभिमुख होकर भी तत्काल लौटने पर ताप के बस, आँसुओं से भींग जाने के कारण बोझिल पलकों से नेत्रों को ढँकती हुई वह, बादलों से घिरे हुए दिन में न तो खिली हुई और पूर्णतः संकुचित हुई स्थलकमलिनी के समान, (तुम उसे देखोगे) ॥९९॥

जाने सख्यास्तव मयि मनः संभृतस्नेहमस्मा-
दित्थंभूतां प्रथमविरहे तामहं तर्कयामि ।
वाचालं मां न खलु सुभगं मन्यभावः करोति,
प्रत्यक्षं ते निखिलमचिराद्भ्रातरुक्तं मया यत् ॥१००॥

जान इति—तव सख्याः वयस्याः मयि संभृतस्नेहम् । आरोपित-प्रेम । जाने अवैमि । अनुपसर्गादात्मनेपदम् । कस्मात् कारणात्, इत्थं-भूतां इमामवस्थां प्राप्तां तर्कयामि ऊहे । कस्मिन् प्रथमविरहे प्रथम-वियोगे, त्वमात्मनः सौभाग्यं प्रथयसीति नाशंसनीयमित्याह । सुभगं-मन्यभावः आत्मानं सुभगं मन्यत इति सुभगंमन्यः, तस्य भावः, स्वभाव-श्रेष्ठां वा मां वाचालं वाचाहं न खलु करोति न विदधाति । आत्ममाने खश्चेति खश्प्रत्ययः, अरुर्दिशदित्यादिना मुम् । कथं भो भ्रातः बन्धो यत् मयोक्तम् कथितम् तदखिलं सर्वं ते तव अचिरात् अल्पेन प्रत्यक्षं । अन्वक्षं प्रत्यक्षं स्यादिन्द्रियकमित्यमरः ॥१००॥

अर्थ—हे मेघ ! तुम्हारी सखी का मेरे ऊपर अत्यधिक अनुराग है अतः इस प्रथम वियोग में ही मैं उसे इस प्रकार सोच रहा हूँ । अपनी प्रिया को अत्यन्त सुन्दरी मानने की भावनामात्र ही मुझे वाचाल नहीं बना रही अपितु जो कुछ मैंने उसके सम्बन्ध में कहा है वह सब शीघ्र ही तुम्हें प्रत्यक्ष हो जायेगा ॥१००॥

वामश्चास्याः कररुहपदैर्मुच्यमानो मदीयै-
र्मुक्ताजालं चिरपरिचितं त्याजितो दैवगत्या ।
संभोगान्ते मम समुचितो हस्तसंवाहनानां
यास्यत्यूरुः सरसकदलीस्तम्भगौरश्चलत्वम् ॥१०१॥

वामश्चेति—प्रियायाः ऊरुः चंचलत्वं चपलतां यास्यति, प्राप्स्यति । किंविधः सरसकदलीस्तम्भगौरः, सरसरम्भास्तम्भावदातः कः, वामः, सव्यः

पुनः किंविधः मदीयैः कररुहपदैः मम संबंधिभिः स्वचिह्नैः मुच्यमानः, प्रोष्यमाणः, पुनः कथंभूतः, दैवगत्या भाग्यवशेन मुक्ताजालम्, मुक्तासमूहं त्याजितः त्यक्तः किंविधम् चिरपरिचितम् चिराभ्यस्तम्, पुनः कथंभूतः, मम हस्तसंवाहनानाम्, करमर्दनानाम्, समुचितः सम्यक्प्रकारेणोचितः योग्यः। कदा रतान्ते, संभोगान्ते ॥१०१॥

अर्थ—हे मेघ ! मेरे नखक्षत के चिह्नों से रहित, चिरकाल से परिचित पर भाग्यवश मोतियों के कटिसूत्र से हीन, संभोग के अन्त में मेरे हाथों द्वारा मृदित किये जाने के योग्य, सरस कदली खम्भे के समान गौर मेरी प्रिया की वाम जंघा फड़कने लगेगी (तुम्हारे उपस्थित होने पर) ॥१०१॥

रुद्धापाङ्गप्रसरमलकैरञ्जनस्नेहशून्यं
प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम् ।
त्वय्यासन्ने नयनमुपरिस्पन्दि शंके मृगाक्ष्या
मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति ॥१०२॥

रुद्धापाङ्गेति—कान्तायाः अङ्गस्फुरणं भवतीति दर्शयति। मृगाक्ष्याः; मृगीचंचललोचनायाः नयनं नेत्रम्। मीनक्षोभात्, चल कुवलयश्रीतुलाम् साम्यमेष्यतीति, प्राप्स्यतीति अहं शंके तर्कयामि। किंविधं, उपरिस्पंदि उपरिस्फुरत्। कस्मिन् सति, त्वयि घने, आसन्ने सति निकटे सति वृत्तान्तप्रापके सति व्यंगार्थः किंविधैः अलकैः, चूर्णकुन्तलैः, रुद्धापाङ्ग-प्रसरम्, आवृत्तनेत्रप्रान्तविस्तारम्। पुनः किंविधम् अंजनस्नेहशून्यम् कज्जलस्निग्धतारिक्तम्। च समुच्चये, अपि च अन्यच्च। विस्मृतभ्रूविलासम् विस्मृतः भ्रूविलासो येन तत्। कस्मात् मधुनो मद्यस्य, प्रत्यादेशात् निराकृतेः ॥१०२॥

अर्थ—लटकने वाले बालों से, अवरुद्ध कटाक्ष प्रसारवाली कज्जलहीन होने तथा मधुसेवन न करने से भूले हुए कटाक्षों वाली

उस मृगनयनी के तुम्हारे उपस्थित होने पर वामनेत्र का फड़कना, मछलियों के संचरण से हिलते हुए कमल की शोभा से समानता प्राप्त करेगा ॥१०२॥

तस्मिन् काले जलद यदि सा लब्धनिद्रासुखा स्या-
दन्वास्यैनां स्तनितविमुखो याममात्रं सहस्व ।
माभूदस्याः प्रणयिनि मति स्वप्नलब्धे कथंचि-
त्सद्यः कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि गाढ़ोपगूढम् ॥१०३॥

तस्मिन्निति—हे जलद जलधर ! तस्मिन् काले समये सा कान्ता यदि लब्धनिद्रासुखा, लब्धनिद्रासुखमानन्दो यया सा स्यात् भवेत् तदा तत्र वातायने गवाक्षे आसीनः तिष्ठन् याममात्रम् प्रहरमात्रम् सहस्व प्रतीक्षस्व । किंविधः स्तनितविमुखः गर्जितपराङ् मुखः । कथं सहन्नित्याह—अस्याः प्रियायाः मयि गाढ़ोपगूढ़ं दृढ़ं दृढ़ालिङ्गनम् । सद्यः कण्ठच्युत-भुजलताग्रन्थि माभूत् मास्म भवेत् । बाहुवल्लीग्रन्था यस्य तत् । कथंभूते कथंचित् केनचित्कारणेन स्वप्नलब्धे व्यवायप्राप्ते । पुनः किंविधे प्रणयिनि प्रणयः प्रेम यस्यास्ति सः तस्मिन् ॥१०३॥

अर्थ—हे जलद ! यदि तुम्हारे उपस्थित होने के समय वह सुख-पूर्वक सो रही हो तो उसके पीछे बैठकर गर्जन रहित हो एक प्रहर तक प्रतीक्षा करना । क्योंकि जिससे जिस किसी प्रकार स्वप्न में प्राप्त होने वाले मुझ प्रणयी के साथ प्रिया के भुजपाश बन्धनपूर्वक गाढ़ालिङ्गन का तत्काल ग्रन्थिमोचन न हो जाय ॥१०३॥

तामुत्थाप्य स्वजलकणिका शीतलेनानिलेन
प्रत्याश्वस्तां सममभिनवैर्जालकैर्मालतीनाम् ।
विद्युद्गर्भः स्तिमितनयनां त्वत्सनाथे गवाक्षे-
वक्तुं धीरः स्तनितवचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथाः॥ १०४॥

तामुत्थाप्येति—हे धीर, तां मानिनीमहंकारिणीं वक्तुं वदितुं प्रक्रमेथाः उपक्रमेथाः । कैः स्तनितवचनैः गर्जितवचोभिः । पत्नीसंभाषणमेकाकिनो न युक्तं पराङ्गनालापनमयुक्तमित्याशंक्याह — विद्युद्गर्भः विद्युत् सौदामिनी गर्भेऽर्थात् समीपे यस्य सः । किंविधां गवाक्षे वातायने स्तिमितनयनामचंचललोचनां । किंविधे स्वत्सनाथे त्वया सनाथः तस्मिन् त्वदधिष्ठित इत्यर्थः । किं कृत्वा अनिलेन वायुना उत्थाप्य जागरित्वा । उदस्थास्तम्भो पूर्वस्येति पूर्वसवर्णः । किंविधेन स्वजलकणिकाशीतलेन आत्माम्बुकणशिशिरेण । पुनः मालतीनां जालकैः क्षारकैः समं सार्धं प्रत्याश्वस्तां आश्वासनप्रापिताम् । किंविधैः अभिनवैः प्रत्यग्रैः । प्रत्यग्रोऽभिनवो नव्यो नवीनो नूतनो नव इत्यमरः ॥१०४॥

अर्थ—हे जलद ! अपने द्वारा बरसाये गये जल-कणों से युक्त वायु द्वारा उस मेरी प्रियाको जगाकर, अभिनव मालती पुष्पों के समुदाय के साथ उसे स्वस्थ कर, झरोखे पर बैठे हुए तुम्हारे ऊपर एकटक होकर देखनेवाली उस मानिनी से, बिजली को अपने भीतर छिपाकर धीरतापूर्वक गर्जन के शब्दों से सन्देश कहना प्रारम्भ करना ॥१०४॥

भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे ! विद्धि मामम्बुवाहं
तत्सन्देशैर्हृदयनिहितैरागतं त्वत्समीपम् ।
यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानां
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि॥१०५॥

भर्तुरिति—भो अविधवे जीवद्भर्तृके ! मां भर्तुः मित्रं विद्धि विजानीहि। किंविधं प्रियं वल्लभम् । यदि तव प्रियः तर्हि कस्मान्न भर्त्रासमं कथं नागतवानासीत्याशंक्याह—अम्बुवाहमनेनार्द्रहृदयत्वं कथितः । तदेव दर्शयति—पुनः किंविधं त्वत्समीपे तव निकटे आगतमायातम् । कैः तत्सन्देशैरुदन्तैः । किंविधैः हृदयनिहितैः सः कः न केवलमहं वार्ताकथकः त्वां प्रियेण सह संघट्टयितुमपि समर्थ इत्याह—यः प्रियः प्रोषितानां

वृन्दानि कदम्बानि त्वरयति उत्सुकानि करोति अलं प्रापयति। कैः गर्जितैः ध्वनितैः। किंविधैः मन्द्रस्निग्धैः गंभीरसुन्दरैः किंविधानां पथि मार्गे श्राम्यतां विचरताम्। किंविधानि अबलावेणिमोक्षोत्सुकानि वनिता-वेणिमोचनोत्कंण्ठानि ॥१०५॥

अर्थ—हे सौभाग्यशालिनि ! तुम मुझे अपने पति का प्रिय मित्र एवं उसके द्वारा कहे गये सन्देश को हृदय में धारण कर समीप में आये हुए सन्देशवाहक मेघ जानो। जो मैं अपनी प्रियतमाओं की वेणी (चोटी) को खोलने में उत्सुक विश्राम करनेवाले परदेशी पथिकों के समूह को गंभीर मधुर ध्वनि के द्वारा शीघ्रता करने के लिये प्रेरित करता हूँ ॥१०५॥

इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा
त्वामुत्कण्ठोच्छ्वसितहृदया वीक्ष्य संभाव्य चैवम्।
श्रोष्यत्यस्मात्परमवहिता सौम्य ! सीमन्तिनीनां
कान्तोदन्तः सुहृदुपगतः संगमात्किञ्चिदूनः ॥१०६॥

इत्याख्यात इति—हे सौम्य सा प्रिया अस्मात् वाक्यात् परममुपरि-वाक्यं सावधाना श्रोष्यति आकर्णयिष्यति। किंविधा इति पूर्वोक्ते आख्याते सति उत्कण्ठोच्छ्वासितहृदया उच्छ्वसितं हृदयं मनो यस्याः सा। पुनः किंविधा उन्मुखी उत् ऊर्ध्वं मुखं यस्याः सा। किं कृत्वा त्वां भवन्तं वीक्ष्य विलोक्य एवं संभाव्य च त्वं तस्य मित्रमिति संभाव्य। केव पवन-तनयं वायुसुतं हनुमन्तं मैथिली जानकीव सापि पूर्वविशेषवार्तायुक्ता। कुतः सुहृदुपेतः सुहृदुपनतः मित्रानीतः कान्तोदन्तः प्रियवृत्तान्तः। सीमन्तिनीनां योषितां संगमात् अर्थात् प्रियसंयोगात् किंचित् ऊनः न्यूनः ॥१०६॥

अर्थ—इस प्रकार कहने पर, हनुमान् जी के प्रति जानकी के समान उन्मुख होकर, उत्सुकतावश प्रसन्न हृदय वाली वह तुमको देखकर आदर करेगी और दत्तचित्त होकर तुम्हारे सन्देश को सुनेगी। क्योंकि

वनिताओं के लिए हे सौम्य! मित्रों द्वारा प्रस्तुत किया गया प्रियतम का समाचार समागम से कुछ ही कम आनन्ददायक होता है ॥१०६॥

तामायुष्मन्मम च वचनादात्मनश्चोपकर्तुं
ब्रूया एवं तव सहचरो रामगिर्याश्रमस्थः ।
अव्यापन्नः कुशलमबले ! पृच्छति त्वां वियुक्तः
पूर्वाभाष्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव ॥१०७॥

तामायुष्मन्निति—भो आयुष्मन् भवान्, तां कान्तां एवं वक्ष्यमाणं ब्रूयात् वदेत् । द्विकर्मकत्वाद्विकर्मकम् । कस्मात् मम वचनात् वाक्यात् आत्मनः उपकर्तुं स्वयमुपकारं कर्तुमिति । अबले बाले । अव्यापन्नः अस्फुटितहृदयः जीवितः । तव भवत्याः सहचरः त्वां कुशलं क्षेमं पृच्छति । अकथितं चेति द्वितीया । किंविधः रामगिर्याश्रमस्थः पुनः किंविधः वियुक्तः वियोगी प्रथमतः कुशलप्रश्नं कथमित्याशंक्याह—प्राणिनां चेतनानां एतदेव कुशलमेव पूर्वाभाष्यं पूर्ववाच्यं प्रथमप्रष्टव्यम् । हेतुगर्भविशेषणमाह—सुलभविपदाम् सुलभाः सुप्राप्ताः विपदः आपदो येषां तेषाम् ॥१०७॥

अर्थ—हे आयुष्मन् मेघ ! मेरी ओर से तथा स्वयं उपकार की भावना से मेरी प्रिया से इस प्रकार कहना कि हे अबले ! तुम्हारा प्रियतम रामगिरि आश्रम में कुशलपूर्वक है । तुम्हारा कुशल जानना चाहता है । क्योंकि विपत्तियों से युक्त प्राणियों के लिए यही सर्वप्रथम कथन उचित होता है ॥१०७॥

अङ्गेनाङ्गं प्रतनु तनुना गाढतप्तेन तप्तं
सास्रेणास्रद्रुतमविरतोत्कण्ठमुत्कण्ठितेन ।
उष्णोच्छ्वासं समधिकतरोच्छ्वासिना दूरवर्ती
संकल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः ॥१०८॥

अङ्गेनेति—तैः संकल्पैः मानसैः कर्मभिः तनुना कृशेन । अङ्गेन

शरीरेण। प्रतनु अतिकृशम्। अङ्गम् देहम्। विशति प्रविशति। तदङ्गमङ्गेन गाढ़तप्तेन प्रविशतीति सर्वत्र संबध्यते। अस्राकुलं अस्रैः अश्रुभिः आकुलं सास्रेण नेत्राम्बुसहितेन अविरतोत्कण्ठमजस्रोत्कण्ठितेन। उष्णोच्छ्वासम् उत् उच्छ्वासेऽधिकश्वासौ यत्र ॥१०८॥

अर्थ—वैरी भाग्यवश रोके गये मार्गवाला दूरवासी तुम्हारा प्रियतम दुर्बलता, अत्यन्त सन्तप्त, अश्रुपूर्णता, उत्कंठा, दीर्घ निश्वासों के द्वारा उनमन की भावनाओं के अनुकूल, शरीर से दुर्बल, संतप्त, अश्रुपूर्ण, निरन्तर उत्कंठित, तुम्हारे शरीर से एकता प्राप्त कर लेता है ॥१०८॥

शब्दाख्येयं यदपि किल ते यः सखीनां पुरस्तात्
कर्णे लोलः कथयितुमभूदाननस्पर्शलोभात्।
सोऽतिक्रान्तः श्रवणविषयं लोचनाभ्यामदृष्ट-
स्त्वामुत्कण्ठाविरचितपदं मन्मुखेनेदमाह ॥१०९॥

शब्दाख्येयमिति—भो सखे! ते तव सहचरो मन्मुखेन मम वचनेन।, त्वां भवन्तीम्। इदं वक्ष्यमाणं वाक्यमाह अब्रवीत्। कथम्—उत्कण्ठाविरचितपदम् उत्कण्ठयोत्सुकत्वेन विरचितानि पदानि यत्र तत् यथा भवतीति। स्वमुखेन कथं न वदतीत्याह विशेषणाभ्याम्—श्रवणविषयं श्रुतिगोचरमतिक्रान्तः उल्लंङ्घितः लोचनाभ्यां नयनाभ्यामदृश्यः अप्रत्यक्षः। सः कः यः ते तव कर्णे श्रवणे सखीनां वयस्यानां पुरस्तात् पुरतः। षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेनेति षष्ठी। लोलः चंचलः अभूत् अभवत् किलेति श्रूयते। वार्तासम्भवयोः किलेत्यमरः। किं कर्तुं कथयितुं गदयितुम्। तत् किं यत् शब्दाख्येयमपि। शब्दाभिधेयमपि प्रकटाभिधेयमपीत्यमरः। कस्मात् सख्यके लोल अभूत इत्याह—आननस्पर्शलोभात् मुखस्पर्शलालसायाः ॥१०९॥

अर्थ—विरह के प्रथम हे अबले! जो सखियों के समक्ष शब्दों द्वारा कहने के योग्य भी बात तुम्हारे मुख का स्पर्श करने के लोभ से जो कान में कहने के लिए अभिलाषी रहता था। वह अब कानों में शब्द

श्रवण करने से दूर है तथा नेत्रों से नहीं देखा जा सकता। अतः वह तुम्हें उत्सुकता से रचे गये शब्दों द्वारा यह सन्देश उसने मेरे द्वारा कहा है ॥१०९॥

श्यामाष्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्मिन् क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति ॥११०॥

श्यामेति—हे चण्डि हे भामिनि, ते तव सादृश्यं साम्यम्। एकस्थं एकवस्तुस्थितम् हन्तेति विषादे। क्वचिदपि क्वापि नास्ति न विद्यते। हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्ये चैव विषादयोरित्यमरः। ते तव दर्शयति। तेऽङ्गं शरीरं श्यामासु प्रियङ्गुलतासु उत्पश्यामि उत्प्रेक्षे। अथवा हे अबले ते दृष्टिपातं चकितहरिणीप्रेक्षणे उत्पश्यामि दृष्टिपातं लोचनावलोकनं भीतमृगी-विलोकिते। वक्त्रच्छायां मुखशोभां शशिनि चन्द्रमसि। केशान् शिरोरुहान्। शिखिनां मयूराणां वर्हभारेषु पुच्छभारेषु। भ्रूविलासान् भ्रूविभ्रमान् नदीवीचिषु सरित्तरङ्गेषु। किंविधेषु प्रतनुषु विरलेषु ॥११०॥

अर्थ—प्रियङ्गुलता में तुम्हारा शरीर, भयभीत हरिणी के नेत्रों में चितवन, चन्द्रमा में मुख की शोभा, मयूरों के पक्षों में केशपाश, नदियों की पतली तरङ्गों में भ्रूविलास को देखता हूँ। किन्तु हे चण्डि! मुझे खेद है कि एक ही स्थान में तुम्हारा पूर्ण सादृश्य कहीं भी नहीं है ॥११०॥

धारासिक्तस्थलसुरभिणस्त्वन्मुखस्यास्य बाले
दूरीभूतं प्रतनुमपि मां पञ्चबाणः क्षिणोति।
घर्मान्तेऽस्मिन् विगणय कथं वासराणि व्रजेयु-
र्दिक्संसक्तप्रविरलघनव्यक्तसूर्यातपानि ॥१११॥

धारासिक्तेति—भो बाले मां पंचबाणः कुसुमेषुः क्षिणोति हिनस्ति। किंविधम् प्रतनुमपि कृशमपि। पुनः कथंभूतम्—त्वन्मुखस्य दूरीभूतम्, अविषयम् किंविधस्य धारासिक्तस्थलसुरभिणः धाराभिः आसारैः सिक्तं स्थलं तद्वत् सुरभिः सुगन्धिः यस्य तस्मिन्। घर्मान्ते ग्रीष्मावसाने। वासराणि दिनानि कथं व्रजेयुः इति विगणय्य आगच्छवान्। क्लीबे दिवसवासरे। किंविधानि दिक्संसक्तप्रविरलघनव्यक्तसूर्यातपानि-दिक्षु संसक्ताः संबन्धाः प्रविरलाः घनाः मेघास्तैः व्यक्तसूर्यातपो रविप्रकाशो येषु तानि ॥१११॥

अर्थ—हे अबले! अत्यन्त दुर्बल तथा तुम्हारे आनन से दूर भी मुझको कामदेव पीड़ित कर रहा है। दिशाओं में आच्छादित विरल घनों से युक्त सूर्य के प्रकाशवाले तथा वर्षा से सिंचित भूमि की सुगन्धिवाले दिन कैसे व्यतीत होंगे ॥१११॥

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया—
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे,
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः ॥११२॥

त्वामालिख्येति—अहम् आत्मानं ते तव चरणपतितम् अंघ्रिपतितम्। यावत् कर्तुम् विधातुम्। इच्छामि काङ्क्षामि। किंकृत्वा त्वां भवन्तीम्, शिलायाम् दृषद्रि। धातुरागैः गैरिकादिभिः इंगुरादिद्रव्यैः। आलिख्य लिखित्वा। किंविधां प्रणयकुपिताम् प्रतिक्रुद्धाम्। तावत् मे दृष्टिः अस्रैः, अश्रुभिः आलुप्यते आव्रियते। दृष्टिः ज्ञानोऽक्षिदर्शनमित्यमरः। किंविधैः मुहुः पतितैः वारम्वारं प्रणतैः। तस्मिन्नपि समये, नौ आवयोः, संगमम् कृतान्तः, कालः, न सहते। न तितिक्षते। किंविधः क्रूरः निर्दयः ॥११२॥

अर्थ—शिलापर गेरू आदि धातु के रंग से प्रणय कुपित तुम्हें चित्रित कर ज्योंही तुम्हारे चरणों में अपने को नत करना चाहता हूँ

त्योंही बार-बार उत्पन्न होने वाले आँसुओं से मेरी दृष्टि ढँक जाती है। क्रूर विधाता चित्र में भी हम दोनों का संगम नहीं सहन करता ॥११२॥

मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो—
लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसन्दर्शनेषु।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थली देवतानां
मुक्तास्थूलास्तरुकिशलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति ॥११३॥

मामाकाशेति—खलु निश्चितं, न पतन्ति इति तु न, अपितु पतन्त्येव। कथंभूताः—मुक्तास्थूलाः, मुक्तावदापीनाः। कथंभूताः, बहुशः—बहवः। अनेकधानाम्-माम् पतिं वीक्ष्य। किंविधः ते तव। निर्दयाश्लेषहेतोः गाढालिंगननिमित्तात्। आकाशप्रणिहितभुजम्—प्रकर्षेण निहतौ भुजौ बाहू यस्य सः। किंविधायास्ते स्वप्नसंदर्शनेषु, मया, कथमपि-केनचित्प्रकारेण लब्धायाः प्राप्तायाः ॥११३॥

अर्थ—स्वप्नावस्थामें जिस किसी प्रकार उपलब्ध होने पर मैं तुम्हारा गाढ़ालिङ्गन करने के लिए जब आकाश में अपनी भुजायें पसारता हूँ तब मुझको देखने वाली वनस्थली की देवियों के मोती के समान बड़े-बड़े अश्रुविन्दु वृक्षों के कोमल पल्लवों पर क्या बहुत वार (दया वश) निश्चय रूप से क्या नहीं गिर पड़ते। अर्थात् मुझे देखकर उनके आँसू आ जाते हैं ॥११३॥

भित्त्वा सद्यः किसलयपुटान् देवदारुद्रुमाणां
ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः।
आलिङ्गयन्ते गुणवति मया ते तुषाराद्रिवाताः
पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तवेति ॥११४॥

भित्त्वेति—भो गुणवति ते, तुषाराद्रिवाताः हिमाचलानिलाः। मयेति, आलिङ्गयन्ते आश्लिष्यन्ते। ते के ये दक्षिणेन प्रवृत्ताः दक्षिणदिग्भागेन

समायाताः । किं कृत्वा देवदारुद्रुमाणाम् किसलयपुटान् सद्यः सपदि भित्त्वा, प्रभिद्य । तुषाराद्रिवाता इत्यनेन शैत्यं अनेन च मन्दत्वं दर्शितम् । किंविधाः अन्तःक्षीरस्रुतिसुरभयः अन्तःक्षीरः प्रदुग्धः तस्य स्रुतिः, तेन सुरभयः । सुगन्धित्वमनेन स्पष्टम् । एभिः, तव भवत्याः अङ्गम् शरीरम् । पूर्वम् स्पृष्टम् व्यामृष्टम् । किल संभावने ॥११४॥

अर्थ—देवदारु के वृक्षों के नवपल्लवों का तत्काल भेदन कर तथा उसी के दुग्ध रस से सुगन्धित दक्षिण की ओर आने वाले वायु का हे गुणवति ! मैं इसलिए आलिङ्गन करता हूँ कि उस हिमालय पर्वत की वायु तुम्हारे अंगों से, सम्भव है, स्पृष्ट होकर आयी होगी ॥११४॥

संक्षिप्येत क्षण इव कथं दीर्घयामा त्रियामा
सर्वावस्थास्वहरपि कथं मन्दमन्दातपं स्यात् ।
इत्थं चेतश्चटुलनयने ! दुर्लभप्रार्थनं मे
गाढोष्माभिः कृतमशरणं त्वद्वियोगव्यथाभिः॥११५॥

संक्षिप्येतेति—भो चटुलनयने, चंचलनेत्रे ! मे मम चेतः । त्वद्वियोगव्यथाभिः तव विरहपीडाभिः । इत्थममुना प्रकारेण, अशरणं कृतम् विहितम् । न विद्यते शरणं रक्षिता यस्येति तत् । निर्बलमिव कृतं निराधारं कृतम् । किंविधाः गाढ़ोष्माभिः गाढ़ो दृढ़ः ऊष्मा दाहो यासु ताः, ताभिः । डाबुभाभ्यामन्यतरस्यामिति डाप् । किंविधम् दुर्लभप्रार्थनम् दुर्लभा दुष्प्रापा प्रार्थना याञ्चा यस्य तत् । कथम् । त्रियामाः रात्रयः । क्षणमिव कथं संक्षिप्येत । किंविधाः दीर्घयामाः दीर्घप्रहराः अहरपि दिनमपि । सर्वावस्थासु पूर्वाह्णमध्याह्नसायाह्नेषु । मन्दमन्दातपम् अल्पाल्पोष्मकम् स्यात् भवेत् ॥११५॥

अर्थ—लम्बे प्रहरों वाली रात्रि एक क्षण के समान कैसे छोटी हो जाय, तथा दिन भी हर समय के लिए कैसे स्वल्प घामवाला हो जाय । हे चंचल नेत्रवाली प्रिये ! इस प्रकार दुर्लभ प्रार्थनाओं से युक्त मेरा

मन अत्यन्त ऊष्म तुम्हारे वियोग की व्यथाओं से विकल कर दिया गया है ॥११५॥

इत्यात्मानं बहुविगणयन्नात्मनैवावलम्बे
तत्कल्याणि ! त्वमपि नितरां मा गमः कातरत्वम् ।
कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥११६॥

इत्यात्मानमिति—अहं आत्मानं देहम् । मनो वा, आत्मनैवावलम्बे ध्रिये । किं कुर्वन् इति बहुविगणयन्—विचारयन् अवगच्छन् । तस्मात् कारणात्—हे कल्याणि, त्वमपि कातरत्वम् अधीरत्वम् । नितराम्-अतितराम् । मागमः । इतीति किम् । कस्य, प्राणिनः, अत्यन्तम् । अव्ययीभावः सुखम् शम् । उपगतम्—उपनतम्-उपपन्नमिति । अथवैकान्ततो दुःखम् सुखाभावः । तदेवार्थान्तरेण दर्शयति । दशा अवस्था । चक्रनेमिक्रमेण रथाङ्गगतिक्रमेण । नीचैः अधः गच्छति याति । उपरि-उच्चैः चक्रम्-रथांगम् दशा-गच्छति-याति ॥११६॥

अर्थ—इस प्रकार बहुत विचार करते हुए अपने को अपने से ही धैर्य देता हूँ—अतः हे कल्याणि ! तुम भी अत्यन्त कातर मत होना । संसार में किस प्राणी को नियमतः सुख या दुःख ही प्राप्त होता है । पहिये की नेमि के समान दशायें ऊपर तथा नीचे क्रम से जाती रहती हैं ॥११६॥

शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ
शेषान् मासान् गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा ।
पश्चादावां विरहगणितं तं तथात्माभिलाषं
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु ॥११७॥

शापान्त इति—हे प्रिये शेषान्-अवशिष्टान्-मासान् । चतुरः । गमय परिकल्पय । किं कृत्वा लोचने मीलयित्वा । तदेव दर्शयति—मे मम ।

शापान्तः शापस्यान्तः, भविष्यति, इत्यध्याहार्यम् । कस्मिन् सति, शार्ङ्गपाणौ शार्ङ्गं धनुः पाणौ हस्ते यस्य सः तस्मिन् । भुजगशयनात् उत्थिते—उत्तिष्ठति सति । इति सर्वत्र पुराणे । शेषमासचतुष्टयानन्तरम् । तत्कालोपपन्ने आत्माभिलाषम्-मनोभिलाषम् । आवाम् त्वमहञ्च । निर्वेक्ष्यावः उपभोक्ष्यावः । किंविधम् विरहगुणितम्-कासु क्षपासु । परिणत शरच्चन्द्रिकासु—परिणता वृद्धिंगता शरच्चन्द्रिका कौमुदी यासु ताः । निशा निशीथिनी रात्रिस्त्रियामा क्षणदा क्षपेत्यमरः ॥११७॥

अर्थ—भगवान् विष्णु के शेषशय्या से उठने के दिन ही मेरे शाप का अन्त होगा । अतः बचे हुए चार महीनों को नेत्र बन्द कर (धैर्य पूर्वक) व्यतीत कर लो । इसके अनन्तर वियोग बस अभिवृद्ध उन इच्छाओं को शरद् ऋतु की बिखरी हुई चन्द्रिका वाली रात्रियों में पूर्ण कर लेंगे ॥११७॥

भूयश्चाह त्वमपि शयने कण्ठलग्ना पुरा मे
निद्रां गत्वा किमपि रुदती सस्वनं विप्रबुद्धा ।
सान्तर्हासं कथितमसकृत्पृच्छतश्च त्वया मे
दृष्टः स्वप्ने कितव रमयन् कामपि त्वं मयेति ॥११८॥

भूयश्चेति—भूयः भूयोऽपि सः भर्ता विशेषप्रियनिमित्तत्वन्मुखादिद माह—हे बाले शय्यायां केवलं अहं त्वत्कण्ठलीनः त्वमपि कण्ठलग्नासती सत्वरं विप्रबुद्धा जागरिता च । कदा पुरा पूर्वं किं कृत्वा निद्रां स्वापं गत्वा किं कुर्वन्ती किमपि रुदती अश्रु मुञ्चती हे अबले, त्वया मे मम । कथितम् । सान्तर्हासं अन्तर्मध्ये हासो हास्यं तेन सह वर्तत इति । किं विधस्य मे असकृत् । पुनः वारं वारं पृच्छतः प्रश्नं विदधतः । एकान्ते तव धूर्तत्वं मया स्वप्ने । कामपि वनितां रमयन् दृष्टः प्रेक्षितः ॥११८॥

अर्थ—हे अबले ! तुम्हारे प्रियतम ने पुनः कहा है कि एक बार शयन में मेरे कण्ठ से लिपटी हुयी भी सोते समय जोर से रोती हुई जग पड़ो

थी। मेरे बार-बार पूछने पर, "हे कितव, मैंने स्वप्न में तुमको किसी नायिका के साथ रमण करते देखा है" यह मन्द-मन्द हँसते हुए तुमने कहा था।

एतस्मान्मां कुशलिनमभिज्ञानदानाद् विदित्वा
मा कौलीनादसितनयने मय्यविश्वासिनी भूः।
स्नेहानाहुः किमपि विरहेऽध्वंसिनस्ते त्वभोगा
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशी भवन्ति ॥११९॥

एतस्मादिति—भो असितनयने नीलनेत्रे मयि लोकवादात्। अविश्वासा सा विश्वासरहिता मा भूः मा स्म भव। स्यात्कौलीनं लोकवादे युद्धे पश्वहिपक्षिणामित्यमरः। किं कृत्वा एतस्मात् पूर्वोक्तान् अभिज्ञानज्ञानात् मां कुशलिनं क्षेमवन्तं। विदित्वा विज्ञाय। स्नेहान् प्रेम्णः विरहे किमपि किंचिदपि। अध्वंसिनोऽनाशिनः आहुः कथयन्ति। कथमध्वंसिन इत्याशंक्याह—हि निश्चितं स्नेहाः। इष्टे प्रिये वस्तुनि तत्पदार्थे उपचित रसाः उपचितः वर्धितः रसो रागो गुणो वा येषु ते। प्रेमराशी भवन्ति। अमूर्ततद्भावे च्विः। शृङ्गारादौ विषये वीर्ये गुणे रागेद्रवे सरसे इत्यमरः। अभोगात् प्रलुप्तभोगात् ॥११९॥

अर्थ—इन पूर्वोक्त अभिज्ञानों से मुझे कुशलपूर्वक जानकर हे चपलनयने! लोकापवाद के कारण मेरे प्रति अविश्वास मत करना। न जाने क्यों लोग वियोग में प्रेम घट जाने की बात कहते हैं। वास्तव में इच्छित वस्तु का उपभोग न प्राप्त होने के कारण एकत्रित होनेवाला प्रेम और अधिक राशीभूत होता है ॥११९॥

आश्वास्यैवं प्रथमविरहोदग्रशोकां सखीं ते
शैलादाशु त्रिनयनवृषोत्खातकूटान्निवृत्तः।
साभिज्ञानप्रहितकुशलैस्तद् वचोभिर्ममापि
प्रातः कुन्दप्रसवशिथिलं जीवितं धारयेथाः ॥१२०॥

आश्वास्याहृति—हे घन ! ममापि जीवितं धारयेथाः कैः तद्वचोभिः तस्याः वचांसि वचनानि तैः। साभिज्ञानप्रहृतकुशलैः अभिज्ञानेन सह वर्तमानं साभिज्ञानं तेन प्रहितं कुशलं क्षेम येषु तानि तैः। किंविधं कुन्दप्रसवः कुन्दपुष्पं तद्वत् शिथिलं श्लथम्। किंविधस्त्वां शैलादाशु त्वरितं निवृत्तः व्यावृत्तः व्याघुटितः। किंविधान् त्रिनयनवृषोत्खातकूटात् त्रिनयनः शिवः तस्य वृषः अनड्वान् तेन उत्खातः उल्लिखितः कूटः शिखरं यस्य तस्मात्। किंकृत्वा तां सखीमालिङ्ग्यामुनाप्रकारेणाश्वास्य। किं प्रथम-विरहोदग्रशोकां प्रथमः आद्यश्चासौ विरहो वियोगः तेन उदग्रः अधिकः उत्कटः शोकः शुक् यस्याः सा ताम् ॥१२०॥

अर्थ—हे मेघ ! प्रथम बार ही वियोग प्राप्त करने के कारण अत्यधिक शोकाकुल अपनी सखी को इस प्रकार आश्वस्त कर, शिव के वाहन वृषभ-द्वारा खुदे हुए शिखरों वाले हिमालय पर्वत से शीघ्र ही लौटकर, मेरी प्रिया द्वारा अभिज्ञानपूर्वक भेजे हुए सन्देश को मुझसे कहकर, प्रातःकालीन कुन्दपुष्प के समान शिथिल मेरे जीवन को धैर्य प्रदान करना ॥१२० ॥

कच्चित्सौम्य व्यवसितमिदं बन्धुकृत्यं त्वया मे
प्रत्याख्यातुं न खलु भवतो धीरतां कल्पयामि।
निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्यः
प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव ॥१२१॥

कच्चिदिति—कच्चिदभीष्टप्रश्ने हे सुन्दर, ममेदं बन्धुकृत्यं सुहृत्कार्यं त्वया भवता व्यवसितमङ्गीकृतम्। कथमुररीकृतामित्याह—खलु निश्चितं भवतो धीरतां धीरत्वं न तर्कयामि न ऊहे। किं कर्तुम् प्रत्याख्यातुं निराकर्तुम्, इदं नाङ्गीकरोमि इति व्याख्यातुम्। पाठान्त-रेणाह—भो सौम्य सुन्दर। मे मम। बन्धुकृत्यं सुहृत्कार्यं व्यवसितं ऊरीकृतं कच्चित् प्रश्नान्तरं निराकर्तुं विदधाति—खलु निश्चितं भवतो

धीरतां धैर्यं तर्कयामि ऊहे। तदेव दर्शयति। त्वं निःशब्दोऽपि शब्दरहितोऽपि चातकेभ्यः सारङ्गेभ्यः जलं पयः प्रदिशसि प्रयच्छसि। कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानमिति चातकप्रातिपदिकस्य सम्प्रदाने, चतुर्थी सम्प्रदाने, इति चतुर्थी। किंविधः याचितः। इममेवार्थान्तरेण द्रढयति—हि निश्चितं सतां सुधियां ईप्सितार्थक्रियैव—अभिलाषितार्थकृतिरेव प्रत्युक्तम् प्रत्युत्तरम्। केषु प्रणयिषु सत्सु। सुधीः कोविदो बुध्—इत्यमरः ॥१२१॥

अर्थ—हे सौम्य! यह मुझ बन्धु का कार्य तुमने करने के लिए निश्चित कर लिया है न! उत्तर देने से ही मैं तुम्हारी धीरता का नहीं सोचता। क्योंकि याचन करने पर शब्दहीन भी जलद चातकों को जल प्रदान करता है ॥१२१॥

एतत्कृत्वा प्रियमनुचितप्रार्थनावर्तिनो मे
सौहार्दाद्वा विधुर इति वा मय्यनुक्रोशबुद्ध्या।
इष्टान् देशान् विचर जलद प्रावृषा सम्भृतश्री-
र्माभूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः ॥१२२॥

एतत्कृत्वेति—हे जलद नीरद! इष्टान् देशान् निवृत्तो विचर गच्छेः। किंविधः प्रावृषा वर्षया। सम्भृतश्रीः उपचितलक्ष्मीः। स्त्रियां प्रावृट् स्त्रियां भूम्नि वर्षा इत्यमरः। किंविधः मे मम सन्देशं प्रतिसन्देशाख्यं प्रियमभिलषितं कृत्वा विधाय। केन अनुचितप्रार्थनावर्त्मना अयुक्तयाञ्चामार्गेण। वा अथवा। सौहार्दात् सुहृद्भावात् मयि अनुक्रोशबुद्ध्या वा। इतीति किं विधुर इति वियुक्त इति। ते तव। विद्युता तड़िता सह वियोगः क्षणमपि निमिषमपि एवं यथा आवयोः तथा मा भूत् मा भवतु। विनापि तद्योगं तृतीयेति तृतीया। कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे द्वितीया इति क्षणशब्दाद् द्वितीया ॥१२२॥

अर्थ—हे जलद! यह वियोगी है यह जानकर अथवा मेरे ऊपर

करुण भाव से, अनुचित भी इस मेरी प्रार्थना को प्रिया के समीप पहुँचाने की कृपा करके, वर्षाऋतु की शोभा से पूर्ण इच्छित स्थानों में विचरण करो। मेरे समान क्षणभर के लिए भी विद्युत् प्रिया से तुम्हारा वियोग न हो ॥१२२॥

तं सन्देशं जलधरवरो दिव्यवाचाचचक्षे
प्राणांस्तस्या जनहितरतो रक्षितुं यक्षवध्वाः
प्राप्योदन्तं प्रमुदितमनाः सापि तस्थौ स्वभर्तुः
केषां न स्यादभिमतफला प्रार्थना ह्युत्तमेषु ॥१२३॥

तं सन्देशमिति—जलधरवरः मेघश्रेष्ठः तत्सन्देशं तस्य यक्षस्य सन्देशः उदन्तः तं आचचक्षे जगाद। दिव्यवाचा दिव्या चासौ वाक् तया। वच् परिभाषणे। तस्या यक्षाङ्गनायाः प्राणान् रक्षितुम् ॥१२३॥

अर्थ—जनसाधारण के हित में संलग्न मेघ ने उस यक्षवधू के प्राणों की रक्षा के लिए यक्ष के सन्देश को दिव्यवाणी के माध्यम से कहा। सन्देश को प्राप्तकर प्रसन्नचित्त वह यक्षवधू अपने स्वामी के समीप प्रार्थना हेतु प्रस्तुत हुई। क्योंकि उत्तम पुरुषों से की गई प्रार्थना किसे इच्छितफल प्रदान करने वाली नहीं होती ॥१२३॥

श्रुत्वा वार्तां जलदकथितां तां धनेशोऽपि सद्यः
शापस्यान्तं सदयहृदयः संविधायास्तकोपः।
संयोज्यैतौ विगलितशुचौ दम्पती हृष्टचित्तौ
भोगानिष्टानविरतसुखं भोजयामास शश्वत् ॥१२४॥

अथ चेदानीं जलदनिवेदितोदन्तश्रवणाद्विगतरोषत्वेन कृपानुगतश्च तेन विज्ञातः। सन् शापान्ते धनाधिपतिना यदनुष्ठितं तदाह—श्रुत्वा-वार्तेति—अपिशब्दसमुच्चये। न केवलं जलदस्तं सन्देशमाचचक्षे धनेशो धनदोऽपि सद्यः तत्कालमेव एतौ विरहवेदनोपप्लुतौ जायापती दम्पती

संयोज्य मेलयित्वा। कीदृशौ विगलितशुचौ परस्परसमागमात् विगत-शोकौ। अतएव हृष्टचित्तौ हर्षितस्वान्तौ भोगविषयान्। कीदृग्विधान् ईप्सितान्। पुनः किंविधान् विरचितसुखान् सन्निहितशर्मणः। शश्वत् अनवरतम् निरन्तरं भोजयामास सेवयाञ्चकार। कीदृशः धनेशः अस्तकोपः अस्तमितरोषः। इमौ मेलयित्वा निवृत्तक्रोधः। अन्यत् किं कृत्वा जलद कथितां जलदेन मेघेन कथितां वार्तां वदन्तां श्रुत्वाकर्ण्य। पुनः किंकृत्वा जलदकथितवार्ताश्रवणानन्तरमेव शापस्यान्तं विधाय कृत्वा। कथं शापावसानमकार्षीदित्याह—सदयहृदयः सदय दयायुक्तं हृदयं चित्तं यस्य सः तथोक्तः आर्द्रचित्तः। ॥१२४॥

अर्थ—धनाधिपति कुबेर उस जलद से कहे गये सन्देश को सुनकर, क्रोधरहित हो दयापूर्ण हृदय से शाप को समाप्त कर, शोक से मुक्त प्रसन्न चित्त दम्पती को मिलाकर, अनवरत सुखपूर्ण अविनाशी इच्छित भोगों का उपभोग कराया ॥१२४॥

॥ शुभम् ॥

इति श्री मल्लिनाथसुतविरचिता मेघदूताख्य पंजरिका समाप्ता। श्री शाके १५३० किलकनामसम्वत्सरे दक्षिणायने श्रावणे मासे शुक्लपक्षे सप्तम्यां तिथौ जनार्दनसूनुना गोविन्दशरणलिखितमिदं पुस्तकं मेघदूत-टीकाख्यं स्वार्थं परार्थं चेति ॥ श्रीः ॥ श्रीः ॥ श्रीः ॥ श्रीः ॥ शुभम्—